सन्त पत्रावली

भाग–१

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा) २८११२१

सन्त पत्रावली

• भाग–१ •

मानव सेवा संघ के प्रवर्त्तक सन्त ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी
श्रीशरणानन्द जी महाराज़ की अमृत वाणी

प्रकाशक :

मानव–सेवा–संघ

वृन्दावन–२८११२१ • (मथुरा)

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ,
वृन्दावन (मथुरा) उ. प्र.
पिन–२८११२१

सर्वाधिकार सुरक्षित

द्वितीय संस्करण :
४००० प्रतियाँ
जनवरी, १९९७

मूल्य ₹ 20-00

मुद्रण–संयोजन :
श्रीहरिनाम प्रेस, वृन्दावन
दूरभाष : ४४२४१५, ४४३४१५

दो शब्द

व्यक्ति अपने आप में अपने को अधूरा पाता है। जितना करना चाहता है, नहीं कर पाता। जिसे पसन्द करता है,उसे नहीं रख पाता। परिस्थितियों के परिवर्तन चक्र में पड़ कर सुख–दुःख के द्वन्द में झूलता है। इससे भिन्न जो वास्तविक जीवन है, जिसमें अभाव नहीं है, दुःख नहीं है, बेबसी नहीं है और नीरसता नहीं है, उसकी ओर जब संत महापुरुष संकेत करते हैं, तो तृषित, पीड़ित, थकित मनुष्य उनकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं ।

प्रस्तुत सन्त–पत्रावली एक ऐसे ही अनूठे प्रकाश और ईश्वरीय प्रेम से ओत–प्रोत उद्‌गारों से भरे पत्रों का संकलन है। सबके प्रिय, सबके हितकारी, सबके प्रति मित्र–भाव रखने वाले, सबकी पीड़ा बाँटने के लिए तत्पर रहने वाले, ज्ञान और प्रेम में पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए सन्त साधकों के व्यवहार के स्तर पर भी उत्पन्न होने वाली जटिल से जटिल और छोटी से छोटी समस्याओं पर ध्यान देकर, उन्हें सुलझाकर परित्राण दिलाते रहे हैं।

अतः प्रस्तुत संकलन में भिन्न–भिन्न अवसरों पर भिन्न–भिन्न मानसिक स्थिति के साधकों द्वारा लिखे गये पत्रों के उत्तर हैं। वेदान्त, भक्ति और व्यवहार सभी रस इनमें मिलेंगे। जीवन के विभिन्न स्तरों की कठिनाइयों और समस्याओं का हल इनमें मिलेगा। भक्ति रस में आह्लादकारी प्रवाह से पूर्ण पत्र भी इसमें मिलेंगे। साधकों के साधन–काल में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों एवं बाधाओं के निराकरण के

उपाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मेरी तुच्छ मति में यह संकलन सभी के लिए अत्यन्त उपादेय एवं शिक्षा–प्रद है।

प्रवचन, लेख और व्याख्यानों में वक्ता की बुद्धि होती है, परन्तु संत–पत्रावली के पत्रों में सन्त का हृदय है। परम कारुणिक सन्त का हृदय मानव जीवन की असफलता देखकर द्रवित होता रहता था। करुणा रस का द्रवीभूत उद्‌गार बड़ा ही मर्मस्पर्शी है और बड़ी ही सरल एवं सुबोध भाषा में प्रकट किया गया है।

श्री महाराज जी के पास बहुत पत्र आते थे। यदि सब पत्रों का संग्रह करके उन्हें प्रकाशित किया जाता तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ हो जाता। अतः कुछ चुने हुए पत्रों का यह संग्रह है। इसमें जो पत्र जिस रूप में उपलब्ध हुए, व्यक्तिगत बातें हटाकर छाप दिये गये। इसमें यथा सम्भव पत्रों के काल क्रम की रक्षा की गयी है। अन्त में कुछ पत्र बिना तिथि के दिये गये हैं।

पत्र लेखकों की समस्याएँ चाहे जिस तरह की हों, उनके उत्तर मानव–जीवन में पैनी अन्तर्दृष्टि रखने वाले सन्त ऐसे सनातन सत्य के आधार पर लिखवाते थे, जिसमें कभी कोई विकल्प संभव ही नहीं है। पत्र–लेखक व्यक्ति थे, उनके प्रश्न व्यक्तिगत प्रश्न रहे होंगे, परन्तु उनके उत्तर में लिखाये गये समाधान सार्वभौम सत्य से आलोकित हैं। अतः सन्त–पत्रावली युग–युगान्त तक, दुःखी, उलझे हुए जिज्ञासुओं एवं साधकों की रहनुमायी करता रहेगा।

इसी आशा और सद्‌भावना के साथ।

विनीता

देवकी

सन्त-पत्रावली

१

प्रिय अभिन्न हृदय, इलाहाबाद

.....

जो प्राणी स्वयं हार स्वीकार नहीं करता वह कभी न कभी विजय अवश्य पाता है। अतः दुर्बलताओं के होते हुए भी उनके न मिटने का दुःख तथा अच्छाई का चिन्तन लगातार करते रहना चाहिए। यह अखण्ड नियम है कि चिन्तन के अनुसार कर्ता का स्वरूप बन जाता है। क्योंकि सभी प्राणी कल्पतरु के नीचे निवास करते हैं। प्रेम–पात्र का संग कर अचिन्त हो जाओ और सर्वदा अभय रहो। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा सज्जनता के आधार पर जीवित रहना प्रेम का अधूरापन है जो किसी भी प्रेमी को शोभा नहीं देता।

चिन्तन ध्यान आदि तथा संग में बड़ा भेद है। ध्यान आदि से माना हुआ अहंभाव दब जाता है और संग से मिट जाता है क्योंकि चिन्तन–ध्यान आदि से कुछ न कुछ दूरी अवश्य रहती है और संग से किसी प्रकार की दूरी तथा भेद नहीं रहता। चिन्तन, ध्यान आदि अनेक बार करना पड़ता है और संग सिर्फ एक बार करना पड़ता है, अर्थात फिर करने का अन्त हो जाता है। जब प्राणी जीवन को सन्तोषजनक पाता है (सज्जनता का अभिमान) तब चिन्तन, ध्यान आदि करता है और जीवन से अरुचि होने पर संग करता है। जीवन का स्वरूप क्या है, यह भली प्रकार यथार्थ जान लेने पर जीवन से अरुचि अपने आप हो जाती है। गुणयुक्त जीवन से सुख, तथा दोषयुक्त जीवन से दुःख, जीवन के अभिमानी को होता है यह सभी जानते तथा मानते हैं, परन्तु इतने से ही जीवन के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। सुखी जीवन से भी दूसरों को दुःख होता है, परन्तु विचार दृष्टि से देखिये

कि दुःख का जन्म कब होता है। जब प्राणी अपने से किसी विशेष व्यक्ति को सुखी देखता है, तब उसके हृदय में दुःख का जन्म होता है। क्योंकि निर्धनों को यदि कोई धनी दिखाई न दे तो निर्धनता का दुःख कुछ नहीं होता। अतः सुखी जीवन ने दुःख को जन्म दिया। सुखी जीवन न तो दूसरों को सुखी बना सकता है और न दूसरे की उन्नति ही कर सकता है और न अपनी ही उन्नति कर सकता है। पूर्ण दुःखी, अधूरा दुखी नहीं, अपनी उन्नति तथा दूसरों को सुख प्रदान करने में सर्वदा समर्थ है। क्योंकि दुःखियों के बिना सुखियों की सत्ता कुछ नहीं रहती। इस दृष्टि से प्यारा दुःखी पूजन करने के योग्य है। दुःखियों का पूजन करने पर जीवन की दोष–रहित अवस्था में भी दुःख का अनुभव हो जाता है; जो उन्नति का मूल है। पूर्ण दुःख होने पर दोषयुक्त जीवन का अन्त हो जाता है। अधूरा दुःख होने पर सुख की आशा के कारण दोषयुक्त जीवन जीवित रहता है। दोषयुक्त प्राणी अपने को दुःखी करता है तथा दूसरे को भी दुःखी करता है और गुणयुक्त प्राणी अपने को तथा दूसरे को सुखी करता है। इस दृष्टि से गुणयुक्त प्राणी दोषयुक्त प्राणी की अपेक्षा श्रेष्ठ है। विचार दृष्टि से देखो, सुखी जीवन से दूसरों को दुःख, दुःखी जीवन से दूसरों को दुःख, मृत्यु से भी दूसरों को दुःख, (मृत्यु भी जीवन की एक विशेष अवस्था है क्योंकि मृत्यु से भी शरीर का संग नहीं छूटता) इस दृष्टि से जीवन का स्वरूप क्या है ? केवल दुःख।

इस प्रकार जीवन का स्वरूप जान लेने पर जीवन से अरुचि अवश्य हो जाती है। अरुचि होने पर शरीर तथा संसार से असंगता होती है जो उन्नति का मूल है। क्योंकि किसी की असंगता से ही किसी का संग हो जाता है। अतः प्रेमपात्र का संग करो। प्रेमपात्र वही है जो सर्वोत्कृष्ट है अर्थात् जिसके समान दूसरा कोई नहीं है। वह सभी प्राणियों का एक है; अनेक नहीं। उनका संग करने के लिए, अभिलाषा होने पर, सभी प्राणी समर्थ हैं। क्योंकि वह किसी का तिरस्कार नहीं करता। उनके सिवा दुःखी को अपनाने के लिए सभी असमर्थ हैं। अथवा यों कहो कि उनसे जो भिन्न हैं, वे सभी दुःखी हैं। दुःखी, दुःखी को कैसे अपनायेंगे अर्थात् नहीं अपना सकते। प्रेमपात्र का संग न करना ही दुःख का मूल है जो दुःखी की भूल से स्वयं हुआ है। दुःखी का दुःख उसी समय तक जीवित है जब तक अभागा दुःखी

सुख की आशा में सुखियों की ओर देखता है। सुख तथा सुखियों से असंग होते ही दुःख का सदा के लिए अन्त हो जाता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

आपका अभेदस्वरूप

.....

२

प्रिय अभिन्न हृदय, इलाहाबाद

.....

प्रेम पत्र मिला। आपने जो इलाज के विषय में लिखा है वह तो भगवान् की कृपा से श्री सद्गुरु वैद्य ने पहले ही कर दिया था। देहभाव के त्याग के रूप में परम औषध देकर, जीवन को निराशा रूपी आरोग्य प्रदान किया, जिससे मृत्यु का भय भाग गया। प्रिय मित्र ! जो मन निजानन्द के लिए मिला है उस मन में मल–मूत्र–पूर्ण शरीर–जो स्वभाव से ही मलिन है–उसके रखने की वासना बसाकर इलाज कराने का क्या प्रयत्न किया जाए ? ऐसा करना विचार दृष्टि से तो उचित नहीं प्रतीत होता। दूसरी दृष्टि से देखिये–जिसका आरम्भ होता है उसका अन्त अवश्य होता है। जब आरोग्य नहीं रहा, तो रोग भी नहीं रह सकता। जब तक जीवन है तब तक जीवन स्वयं रक्षा करता है–ऐसा मेरा विश्वास है। इसलिए कोई चिन्ता की बात नहीं। जीवन का गुलाम बन कर जीना उचित नहीं। जीवन का सदुपयोग करना उचित है। जीवन की आशा तब तक रहती है जब तक अपने में पूर्णता का अनुभव नहीं होता। पूर्णता का अनुभव वासनाओं के त्याग से तथा आत्मभाव से होता है, शरीर के रखने से नहीं बल्कि जीवित शरीर को भी मृतक के समान समझना होगा जो विचार से ही सम्भव होगा।

आपका सेवक

.....

३

प्रिय आत्म स्वरूप, इलाहाबाद

.....

अपने से भिन्न किसी भी वस्तु को सुख का साधन समझना परम भूल है क्योंकि इसी भूल के होने पर किसी न किसी प्रकार की वासना तथा मलिन अहंकार अर्थात् –मैं शरीर हूँ– इस भाव की उत्पत्ति होती

है जो सर्व दुःखों का मूल है।

शरीर और संसार दोनों बीज और वृक्ष के समान हैं। शरीर–भाव–रूपी बीज के होने पर संसार–रूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है और संसार रूपी वृक्ष में अनन्त शरीर–भाव–रूपी बीज दिखाई देते हैं। ये दोनों स्वरूप से अभेद और प्रतीति मात्र भेद वाले मालूम होते हैं। वास्तव में दोनों एक हैं; ऐसा मेरा अनुभव है। देखिए, जो वस्तु उत्पन्न होती है वही नाश होती है। जो नाश होती है तो वह वस्तु अपनी निजी सत्ता कुछ नहीं रखती। उत्पन्न होने के कारण का अन्त होने पर, उस वस्तु का, जो उत्पन्न हुई है, सदा के लिए अन्त हो जाता है। ऐसा विचार–दृष्टि से देखने में आता है। संसार रूपी वृक्ष शरीर–भाव–रूपी बीज से प्रतीति मात्र उत्पन्न होता है–स्वरूप से नहीं। जो वस्तु स्वरूप से होती है उसका किसी काल में अन्त नहीं होता। परन्तु संसार का अन्त देखने में आता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि संसार स्वरूप से कोई वस्तु नहीं। केवल प्रतीति मात्र है। जिस प्रकार दर्पण में मुख न होते हुए भी उसमें प्रतीत होता है। शरीर–भाव–रूपी बीज तथा संसार रूपी वृक्ष उससे ही उत्पन्न हुआ है जो तत्त्ववेत्ताओं का निज स्वरूप तथा भक्तों का भगवान् है। इसमें कुछ सन्देह नहीं है। अतएव सारा विश्व आपका निज स्वरूप ही सिद्ध हुआ। इसलिए विश्व में अपने को और अपने में विश्व को अनुभव करो। ऐसा करने पर जीवन में किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती और बिना अनुभव किये पूर्णता कदापि नहीं हो सकती, ऐसा मेरा विश्वास है। ऐसा अनुभव करने के लिए अपने में स्थायी भाव से सर्व शक्तिमान, अखण्ड सत्‌चित् आनन्दघन, शुद्ध–बोध स्वरूप भगवान की स्थापना करो। अर्थात् वह मैं हूँ ऐसा करने पर विश्व से एकता स्वयं अनुभव होगी और हृदय विश्व–प्रेम से स्वाभाविक रूप से भर जायगा। मन सदा निजानन्द की लहरों से लहरायेगा। सब ओर अपना आप ही नजर आयेगा।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका सेवक

.....

४

प्रिय देवी जी, इलाहाबाद

.....

प्रसन्न चित्त रहने का स्वभाव बनाओ, जो दूसरों को प्रसन्न रखने से होगा। दूसरों की प्रसन्नता सेवा–भाव से होगी। अपने से बड़ों का सम्मान पूर्वक आज्ञा पालन, और बराबर वालों से प्रेम पूर्वक मेल मिलाप, और अपने से छोटों पर दया के भाव रखना ही, सच्चा सेवा भाव है। दुःख का चिन्तन कभी मत करो। ऐसा करना परम भूल है। दुःख का चिन्तन दूसरों को दुःख देने से होता है। देखिए, कोई भी मनुष्य जब तक अपने को दुःखी नहीं बनाता तब तक दूसरे को दुःखी नहीं कर सकता। यानी दूसरों के प्रति दुःख के भाव पैदा होने पर अपने को दुःख होता है–ऐसा मेरा अनुभव है। जिस प्रकार क्रोध आने पर पहले अपने को दुःख होता है, फिर उसको होता है जिस पर क्रोध किया जाता है। इसलिए प्रिय बहिन, अपने दुःख से बचने के लिए दूसरों को दुःख देने के भाव कभी मन में लेशमात्र भी उत्पन्न मत होने दो, क्योंकि यह अमूल्य जीवन आनन्द के लिए मिला है। अतएव आनन्दघन भगवान् का चिन्तन करते हुए जीवन–लीला समाप्त करनी चाहिये। ऐसा करने के लिए स्वार्थ–त्याग, विश्व–प्रेम तथा आत्मविश्वास का अवलम्बन करना होगा। यह पत्र आपको बार–बार पढना चाहिये।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द
आपका सेवक

.....

५

स्वधर्म प्रिय जनो ! अजमेर

.....

प्रत्येक प्राणी का चित्त सुख तथा दुःख में आबद्ध है। इन दोनों बन्धनों से मुक्त होने पर ही मानव जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है।

सुख का बन्धन सेवा से तथा दुःख का बन्धन त्याग द्वारा ही मिट सकता है जिससे प्राणी के जीवन में सच्ची वास्तविकता आ जाती है तथा वह आनन्द का अधिकारी बन जाता है। .....

निवेदक
दुःखियों का पुजारी

६

प्रिय आत्मस्वरूप,　　गंगा पट्टी (इलाहाबाद)

६—१—३६

साधारण मनुष्य और विचारशील मनुष्य में यही अन्तर है कि विचारशील मनुष्य तो जिस प्रकार जानते हैं, उसको उसी प्रकार का मानते हैं और साधारण मनुष्य तो कुछ दिन बाद उस वस्तु के ज्ञान के विपरीत क्रिया करने लगते हैं। देखो भाई मनुष्य के अनुभव से सिद्ध है कि यह क्षणभंगुर शरीर अधिक विश्वास के योग्य नहीं है। क्योंकि ऐसी घटनाएँ प्रतिदिन देखने और सुनने में आती हैं कि थोड़े ही समय में कुछ का कुछ हो जाता है। इतना ही नहीं हर श्वाँस काल के गाल में जा रहा है, किन्तु अज्ञान के कारण हमारी दृष्टि उस पर नहीं रहती। विचारशील मनुष्य की दृष्टि में तो यह सारा संसार कालरूपी अग्नि में हर समय जलता हुआ नजर आता है और इससे बचने के लिए, अर्थात् मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए वह निरन्तर प्रयत्न करता है और जो वस्तु विश्वास करने के योग्य नहीं, उस पर विश्वास नहीं करता एवं जो विश्वास के योग्य है उस पर विश्वास करता है, उससे ही प्रेम करता है और जिससे प्रेम करता है, उसका ही चिन्तन करता है, वही उसका स्वरूप बन जाता है।

सच्चिदानन्दघन आत्मा पर पूरा विश्वास तथा उससे ही अनन्य प्रेम और उसमें ही सन्तुष्ट हो नित्य आनन्द प्राप्त करना चाहिए। विश्वास और प्रेम प्रत्येक मनुष्य में स्वाभाविक हैं, क्योंकि हर मनुष्य किसी न किसी पर विश्वास तथा प्रेम अवश्य करता है; यह प्रत्येक मनुष्य के अनुभव से सिद्ध है। एक छोटा सा बालक भी, जब कि वह अबोध अवस्था में होता है, अपनी माता पर विश्वास तथा उससे प्रेम करता है। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है, जो किसी न किसी पर विश्वास न करता हो, परन्तु अज्ञान के कारण अनित्य वस्तुओं पर विश्वास करने वाला कभी नित्यानन्द नहीं प्राप्त कर सकता।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द

तुम्हारा

.....

७

अल्मोड़ा

प्रिय आत्मस्वरूप, १७—६—३६

विचारपूर्वक ज्ञान की दृष्टि से एक में अनेक और अनेक में एक अर्थात् आत्मा में जगत् तथा जगत् में आत्मा को देखना ही परम तप है। क्योंकि जिस प्रकार जल से लहर उत्पन्न होकर जल में स्थित होकर और अन्त में जल ही में लय हो जाती है, इसी प्रकार वह अनन्त सृष्टि, जो मन तथा इन्द्रियों से जानी जाती है, शुद्ध सच्चिदानन्दघन बोध—स्वरूप आत्मा से उत्पन्न होती है। वास्तव में ब्रह्म तथा जगत् में काल्पनिक भेद है; तत्त्व की दृष्टि से आत्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं। इस प्रकार का स्थायी भाव दृढ़ होने से सर्व वासनाओं का त्याग स्वाभाविक हो जाता है, परन्तु इसके लिए देहाभिमान को गलाना होगा और इन्द्रियजन्य विषयों का विषवत् त्याग करना होगा।

प्रिय आत्मस्वरूप, इस शरीर को भगवान् कहीं रक्खें, परन्तु आपका अहंभाव स्थायी रूप से शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा में हो, अर्थात् जल—प्रवाह के समान निरन्तर चलते—फिरते, उठते—बैठते यह चिन्तन हो कि मैं शरीर, मन, बुद्धि आदि सबसे परे शुद्धबोध—स्वरूप आत्मा हूँ, जो कि ज्ञानयोगियों का निजस्वरूप तथा भक्तों का भगवान् है, जिसको पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता। यही जीवन का मुख्य लक्ष्य है। जब तक मन की यह दशा न हो जाए कि आत्मा के सिवा कोई भी बाहरी वस्तु आपको आनन्द का हेतु न प्रतीत हो, उस समय तक चैन से समय काटना विचारशील मनुष्य का काम नहीं है, क्योंकि मन का अपने अधीन होना ही—मनुष्यता और मन के अधीन होना ही—पशु—स्वभाव, कहलाता है। ऐसा विचारशील महात्माओं का कथन है।

तुम्हारा

.....

८

अल्मोड़ा

प्रिय आत्मस्वरूप, १७—६—३६

जो बुराई अच्छाई के स्वरूप में मालूम होती है, उसका निकलना बड़ा कठिन हो जाता है। जिस प्रकार ईश्वर को मानना अच्छाई है,

परन्तु उस तत्त्व का बिना अनुभव किये केवल मान कर ही सन्तोष कर लेना महान भूल है। क्योंकि जो नहीं मानते और नहीं जानते, वे लोग कम से कम अपने आपको धोखा तो नहीं देते। यद्यपि ईश्वर को न मानने वाले बड़ी गलती पर हैं, परन्तु वे कभी न कभी ईश्वर को अवश्य मान लेंगे, क्योंकि मेरे जानते उन्होंने सच्चाई को प्यार किया है, और जो लोग मानते हैं पर जानते नहीं, उन्होंने सच्चाई को प्यार नहीं किया, क्योंकि जैसा ज्ञान हो उसके अनुकूल ही क्रिया करना और उसको ही मानना सच्चाई है। ईश्वर है यही समझकर सन्तोष मत करो, बल्कि उसका अनुभव करने के लिए अखंड प्रयत्न करो। प्रभु हर देश, हर काल में हैं, परन्तु न जानने की दूरी है। जिस प्रकार कोई वस्तु अपने पास हो और उसको भूल जाने से वह अपने से दूर मालूम होती हो, इसी प्रकार वह प्रभु सर्वदा अत्यन्त समीप हैं, केवल अज्ञान की दूरी है।

अब विचार–दृष्टि से देखिये कि जिसका किसी काल में भी आपसे वियोग नहीं होता, वह क्या है ? उसका अनुभव करने के लिए प्रथम यह अनुभव करो कि जो वस्तु हर काल में नहीं रहती, वह क्या है ? तो मालूम होगा कि शरीर आदि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो हर काल में एकरस रहे। तो फिर हमको उसका अनुभव करने के लिए कि जो सर्वदा अखण्ड एकरस है, अपने को शरीर आदि प्रत्येक वस्तु से ऊपर उठाना होगा। ऐसा करने से उसका अनुभव अवश्य हो जायगा। परन्तु यह वही कर सकता है, जो अपने–आप को धोखा नहीं देता और सच्चाई को प्यार करता है। देखिए, कोई भी शरीर ऐसा नहीं हो सकता जो सर्वदा समीप रहे, तो फिर किसी भी शरीर का स्मरण करना भूल के सिवा और क्या हो सकता है ? ऐसा करना ही असत् को प्यार तथा अपने आपको धोखा देना है। यह बुराई है, जो देखने में तो अच्छाई मालूम होती है, लेकिन सत्य के अनुभव में रुकावट डालने वाली महान बाधा है। देखिए मन में किसी प्रकार का भी चिन्तन होने पर बुद्धि स्थिर नहीं होती और जब बुद्धि स्थिर नहीं होती, तो आत्मानुभव किस प्रकार हो सकता है ? इसलिए जहाँ तक हो सके बुद्धि को स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मा पर पूरा विश्वास करो। शारीरिक आवश्यकताएँ ईश्वर की मरजी पर छोड़ दो। शरीर आदि किसी भी वस्तु की आशा मत करो,

क्योंकि निराशा ही परम सुख है। आगे और पीछे का चिन्तन मत करो, बल्कि वर्तमान में नित्य आनन्द अनुभव करने का प्रयत्न करो। जीवन तथा मृत्यु में भेद मत समझो, वर्तमान समय को सबसे उत्तम समझो, क्योंकि वर्तमान के सँभल जाने से बिगडा हुआ भूत और आने वाला भविष्य अपने–आप सँभल जाता है। हर अवस्था में प्रसन्नचित्त रहने का स्वभाव बनाओ। हर्षपूर्वक कठिनाई सहन करो। रागद्वेष तथा मोह का अन्त कर दो। आत्मानुराग से हृदय भर लो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !
तुम्हारा

.....

९

फैजाबाद

प्रिय आत्मस्वरूप, १९–७–३६

बाहरी सहायता से पूर्ण होने वाली कामनाओं का इरादा न रखने पर, जीवन–यात्रा सुलभ तथा शान्त अवश्य हो जाती है–इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। वास्तव में यही उत्तम जीवन है। परन्तु किसी प्रकार की मजबूरी तथा संकोचवश कामनाओं को प्रकट न करना अर्थात् दबा देना कोई विशेष मूल्य नहीं रखता।

किसी भी प्रकार की कामना न रखने वाला राजाओं का राजा; जो शक्ति प्राप्त है उससे कुछ कम कामना रखने वाला धनी; शक्ति के समान कामना रखने वाला–मजदूर; शक्ति से अधिक कामना रखने वाला–कंगाल है।

तुम्हारा

.....

१०

अल्मोड़ा

प्रिय आत्मस्वरूप, ११–८–१९३६

क्या आप वास्तव में निर्जन स्थान में वास करना चाहते हैं ? उसका रास्ता तो तंग और कठिन है। वहाँ बिना सामान के अकेले जाना होता है। लेकिन आपने उनका साथ कर रखा है कि जिनके साथ बहुत सा सामान और जन–समुदाय है। अनेक सज्जन, मित्र, बहन, भाई, माता और भोले–भाले सुन्दर बच्चे हैं। बँगला, जिसमें कोच आदि अनेक सामान, इतना ही नहीं बल्कि मल–मूत्र–पूर्ण

विकारयुक्त–शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन आदि अनेक साथी हैं और अनेक साथियों के सम्बन्धी हैं। तो भला इनका साथ करके वहाँ कैसे जा सकते हो ? इसलिए प्रिय मित्र, निर्जन स्थान में जाने के लिए सबका त्याग अवश्य करना होगा। परन्तु जब तक आप विचाररूपी तलवार से उनको समाप्त नहीं कर देंगे तब तक आपका साथ कब छोड़ने वाले हैं।

सबसे असंग होने पर ज्ञानरूपी प्रकाश होगा। जिससे अज्ञान रूपी अन्धकार समाप्त हो जाएगा। जिसके समाप्त होने से विषय रूपी सर्प और काम, क्रोध आदि डाकू , राग–द्वेष रूपी खूँखार जानवर, वासना रूपी जहरीले बिच्छू मार्ग में सता नहीं सकेंगे। और तृष्णा रूपी खाई तथा आशा रूपी अनेक गड्ढ़ों से भी बच जाओगे। आगे चलकर समतारूपी मनोहर वन मिलेगा। जहाँ पर पहुँचते ही सफर की थकावट दूर हो जाएगी, फिर वहाँ से चलकर मुदिता यानी अखण्ड प्रसन्नता रूपी सुन्दर सरोवर मिलेगा जिसमें स्नान करते ही सब, दुःख दूर हो जाएँगे। कुछ और आगे चलकर निर्जन स्थान है जिसकी सुन्दरता कही नहीं जा सकती, क्योंकि वह मन–बुद्धि का विषय नहीं है। वहाँ जाकर सदा के लिए आना–जाना बन्द हो जाता है और परमानन्द प्राप्त होता है। परन्तु विचाररूपी तलवार प्राप्त करने के लिए सेवा–भावरूपी थाली में आँसूरूपी मोती रख कर भगवान् की भेंट करो। परम कृपालु भगवान् अवश्य दया करेंगे। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका अभेदस्वरूप

.....

११

प्रिय ..... , काशी

जब तक आत्मानुभव न हो तब तक चैन से मत रहो। उसके लिए अपना सब कुछ बलिदान कर डालो। परन्तु यह ज्ञानरूपी अग्नि से होगा क्योंकि संसार का मूल कारण अज्ञान है और ज्ञान ध्यान से, ध्यान आत्मचिन्तन से, आत्मचिन्तन त्याग से, त्याग तप से। विषयों पर विजय प्राप्त करने के लिए हर्षपूर्वक कठिनाइयों को सहन करना तप है और तप आत्मा पर पूरा विश्वास करने से होता है। यह अच्छी तरह समझ लो कि पूरा विश्वास एक पर हो सकता है–अनेक पर नहीं। यदि उसके बिना चैन है तो समझना चाहिये कि अभी इस अभागे मन

में प्रेम पैदा नहीं हुआ, क्योंकि यह अखण्ड नियम है कि प्रेमी को प्रेम–पात्र के बिना कल नहीं पड़ती। जब तक जीवित शरीर मृतक के समान न मालूम हो तब तक प्रेम पैदा नहीं हो सकता–ऐसा मेरा विश्वास है। यह ध्यान रहे कि साधन में शिथिलता न आने पावे, बल्कि दिन–पर–दिन उत्साह बढ़ाते रहना चाहिए।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१२

पलिया कलाँ

प्रिय आत्मस्वरूप, २८–८–१९३६

यह नियम है कि कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठान के बिना नहीं रह सकती यानी जिसमें कल्पना की जाती है उसके बिना और अधिष्ठान कल्पित वस्तु के बिना रह सकता है। क्योंकि वास्तव में कल्पित वस्तु की कोई निजी सत्ता नहीं होती, बल्कि अधिष्ठान की सत्यता से ही सत्य–सी मालूम होती है। जिस प्रकार लहर जल के बिना नहीं रह सकती, किन्तु जल बिना लहर के रह सकता है। क्योंकि लहर की जल के बिना कोई निजी सत्ता नहीं बल्कि सर्वदा जल के सिवाय कुछ और है ही नहीं, सिर्फ नाम और रूप की कल्पना कर ली है और वह वायु का दोष आने से प्रतीत होती है क्योंकि जल के स्थिर होने से लहर के नाम–रूप का पता नहीं चलता इसी प्रकार ब्रह्म जगत् के बिना रह सकता है और जगत् ब्रह्म के बिना नहीं रह सकता; क्योंकि जगत् और ब्रह्म में केवल काल्पनिक भेद है–स्वरूप से नहीं। इसलिए ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है।

विचार–दृष्टि से देखिए कि जब हम शरीर को अपना आप समझते हैं तब शरीर सत् और चेतन तथा सुखरूप मालूम होता है, जिसके होने से वासनारूपी वायु चलने लगती है, जिससे अनन्त संसार प्रतीत होता है क्योंकि आत्मानुभव होने पर जब मल–मूत्र–पूर्ण शरीर में अहंभाव नहीं रहता तब वासनारूपी वायु शान्त होती है जिसके होने से यह संसार, वह ब्रह्म और मैं, ये तीनों एक हो, केवल अखण्ड सत्–चित्–आनन्द शुद्धबोधस्वरूप परम तत्त्व शेष रहता है। इसलिए जब तक आत्मानुभव न हो तब तक चैन से न रहो। इसके लिए हर समय जल–प्रवाह के समान विचारपूर्वक आत्म–चिन्तन करते

रहना चाहिए। यही सब रोगों की औषधि है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१३

इलाहाबाद

प्रिय आत्मस्वरूप, २—१०—१९३६

सत्य की खोज के लिए शरीर इत्यादि प्रत्येक असत्य वस्तुओं से अपने को ऊपर उठाना होगा। जब तक लेशमात्र भी संसार सुखरूप, सत्यरूप और सुन्दर—मालूम होता है तब तक समझना चाहिए कि अभी इस अभागे मन में सत्य की तलाश नहीं हुई। इसलिए प्रिय मित्र, विचारपूर्वक शान्त—चित्त से इस संसार को भली भाँति समझ लो। परन्तु यह अच्छी तरह से ध्यान रखो कि जिसको जैसा समझो उसके साथ उस प्रकार का ही व्यवहार करो—अर्थात् अपने ज्ञान के विपरीत कोई भी क्रिया मत करो। विचार—दृष्टि से देखिये कि ऐसी अनेक घटनाएँ देखने तथा सुनने में आती हैं कि थोड़े ही समय में कुछ का कुछ हो जाता है। परन्तु साधारण मनुष्य की उस पर दृष्टि नहीं जाती। इससे वह बार—बार संसार—सागर में गोते लगाता है। परन्तु विचारशील मनुष्य अखण्ड प्रयत्न कर इससे पार हो जाता है।

आगे और पीछे का व्यर्थ चिन्तन मत करो। बल्कि वर्तमान समय का सदुपयोग करने के लिए हर समय ध्यान रखो, क्योंकि ऐसा करने से भविष्य तो सँभल ही जाता है और बिगड़े हुए भूत का भी प्रभाव जाता रहता है। .....विचारशील प्राप्त वस्तु में राग नहीं रखते और अप्राप्त की इच्छा नहीं करते। इसलिए हर समय परमानन्द में सन्तुष्ट हो परम शान्ति तथा नित्य आनन्द प्राप्त करते हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द आनन्द।
आपका सेवक

.....

१४

इलाहाबाद

प्रिय देवी जी, २—१०—१९३६

माता का स्वभाव पृथ्वी के समान सहनशील होना चाहिए क्योंकि वास्तव में माता किसी शक्ल का नाम नहीं है, जिस प्रकार मुंसिफ

किसी शक्ल का नाम नहीं है, बल्कि मुंसिफी करने वाला मुंसिफ कहलाता है। भगवान् ने आपको माता का पद दिया है, इसलिए उसको नियमपूर्वक पूरा करने का प्रयत्न करो। परन्तु यह ध्यान रहे कि पार्ट करने वाला ऐक्टर (actor) अपने को पार्ट से सर्वदा अलग समझता है। इसलिए अपने को स्त्री कभी मत समझो। समीप रहने वाले जन–समुदाय के सुख का सदा ध्यान रखो। हर समय प्रसन्न चित्तरहने का स्वभाव बनाओ। विचारशील मनुष्य अपने मन को साफ करते हैं, और अपनी ही भूल पर दृष्टि रखते हैं। ..... बच्चों को योग्य बनाने के लिए सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका सेवक

.....

१५

फतेहगढ़

प्रिय आत्म स्वरूप, २३–१०–१९३६

विचार–दृष्टि से देखने पर मालूम होता है कि यह स्थूल, यानी जो किसी नाम तथा रूप में देखने में आता है, वास्तव में संसार अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, आकाश आदि महाभूतों से अभेद अर्थात् एक है। परन्तु इसका अनुभव इस स्थूल शरीर से ऊपर उठने पर होता है। फिर उसे सारा ससार अपना स्थूल शरीर मालूम होता है। स्थूल शरीर के बढ़ जाने पर सूक्ष्म शरीर का दायरा भी बढ़ जाता है। जो पहले किसी जाति, परिवार तथा इष्ट मित्रों में था–अर्थात् थोड़े से समुदाय से ही मन का जो लगाव था–वह फिर विश्वप्रेम में बदल जाता है, अर्थात् सब के साथ समान प्रेम तथा सम्बन्ध हो जाता है। जिस प्रकार पहले एक शरीर से अहंभाव होने पर सूक्ष्म शरीर भी छोटा था और कारण शरीर भी छोटा–सा मालूम होता था, यानी यह समझता था कि मैं एक छोटी चीज हूँ, कि जिसका सम्बन्ध एक शरीर तथा कुछ थोड़े सम्बन्धियों से है, यानी एक अपनी छोटी सी दुनियाँ मालूम होती थी अब जिस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म शरीर का दायरा, यानी स्वरूप बढ़ गया, इसी प्रकार कारण शरीर का भी दायरा जो पहले छोटा सा था, वह महान् हो जाता है। और फिर वह अपने को सारे विश्व में देखता है। यह अवस्था होने पर वासनाओं का नाश हो जाता है। और स्थायी भाव होने पर अपने को सबसे अलग और सबमें देखता है और यह

मालूम होता है कि यह सारा जगत् जिससे उत्पन्न होकर स्थित रहता है, अन्त में जिसमें लय हो जाता है—देखने वाला अपने को उस परम तत्त्व से भिन्न, यानी अलग नहीं पाता। अपने को उससे अभेद देखता है।

प्रिय मित्र, पहले स्थूल से अपने को ऊपर उठाइयेगा। स्थूल शरीर से ऊपर उठाने पर किसी प्रकार की चाह वासना की उत्पत्ति नहीं होती। और वासनाओं का त्याग होने पर ध्यान अपने आप हो जाता है। विचार—दृष्टि से देखिए कि वास्तव में जब हम असत्य—शरीर से अपने को एक कर देते हैं तब अनेक असत्य वस्तुओं की चाह यानी वासना उत्पन्न होती है। असत्य की चाह मिटने पर सत्य का अनुभव स्वयं हो जाता है। क्योंकि सत्य तो हर समय हर स्थान में सर्वदा परिपूर्ण है। उसके लिए किसी असत्य, यानी जो सदा नहीं रहती, उस वस्तु की सहायता की आवश्यकता नहीं है। बल्कि एक मात्र असत्य से अपने को ऊपर उठाना है।

देखो भाई, यदि यह सारा संसार, जो कि मन, इन्द्रिय तथा बुद्धि से जाना जाता है, वास्तव में सत्य होता तो यह आपकी सत्ता के बिना अपने को प्रकाशित यानी जाहिर करता ? परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। क्योंकि जिन मन, बुद्धि आदि से यह संसार मालूम होता है यदि आप अपने को उन सबसे ऊपर उठा लेवें तो फिर वह आपकी सत्ता के बिना कुछ भी नहीं कर सकते, यानी अपने को भी जाहिर नहीं कर सकते। जिस प्रकार आँख ने यह कभी नहीं कहा कि मैं आँख हूँ तथा न कभी मन, प्राण आदि किसी ने भी कहा कि मैं हूँ। यह सब आपकी सत्ता से सत्ता वाले हैं। क्योंकि जो इन सबसे परे है उसका स्वरूप सत्य है क्योंकि वह सदा रहता है और चैतन्य है क्योंकि वह अपने को स्वयं प्रकाशित करता है।

जो अपने को स्वयं प्रकाशित करे वही चैतन्य है और इन सबसे अधिक प्यारा है। इसलिए मालूम होता है कि आनन्द का केन्द्र भी वही है। क्योंकि जिससे आनन्द नहीं मिलता, वह प्यारा नहीं मालूम होता। अब विचार—दृष्टि से देखिए कि संसार के सारे पदार्थ शरीर के लिए प्यारे हाते हैं। क्योंकि शरीर की रक्षा के लिए बाहरी सभी वस्तुओं का त्याग सभी कर देते हैं। पर शरीर से अधिक इन्द्रियाँ प्यारी होती हैं, क्योंकि जब कोई आपत्ति शरीर पर आती है तो इन्द्रियों की रक्षा

करता है और जब प्राणों पर आती है तो इन्द्रियों को भेंट कर देता है। परन्तु जब स्वयं दुःखी होता है तो प्राणों का भी त्याग कर देता है। इससे मालूम होता है कि जो इन सबसे परे है उसको सबसे अधिक प्यार करता है, क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि सबका त्याग तो हो सकता है परन्तु जो इन सबसे पैरे है उसका त्याग कभी किसी काल में भी नहीं कर सकता, क्योंकि वह सत्य है और चैतन्य है और आनन्दघन है।

प्रिय मित्र ! अपने को सच्चिदानन्दघन को समर्पण कर डालो, यही परम पुरूषार्थ है। अर्थात् 'यह' संसार और 'वह' परमात्मा और 'मैं', इन तीनों को एक समझो, क्योंकि जो जिसमें उत्पन्न होकर जिसमें स्थित रहता है और अन्त में उसमें ही लय हो जाता है—वह वास्तव में वही होता है। इसमें कुछ भी संन्देह नहीं।

आनन्द, आनन्द, आनन्द !
आपका अभेदस्वरूप

.....

१६

फतेहगढ़

प्रिय आत्मस्वरूप, १०—१९३६

सायंकाल को सब काम समाप्त होने पर सोने से पहले शान्त चित्त से विचारपूर्वक उस दिन के सब कामों पर दृष्टि डालो और देखो कि कोई काम गलत तो नहीं हुआ। यदि कोई गलत मालूम पड़े तो फिर दुबारा उसके न होने का दृढ़ संकल्प करो और सर्वशक्तिमान अन्तर्यामी से यह प्रार्थना करो कि हे नाथ, शरीर, मन, वाणी से कोई काम स्वार्थ और आसक्ति से न हो। फिर नियम—पूर्वक जप करके सो जाओ। प्रातःकाल का जप करने के बाद सद्भाव से हृदय में यह भावना करो कि हे भगवान् ! सेवा करने के लिए सत्य ज्ञान दीजिए और मन पवित्र तथा शरीर को बलवान बनाइये। फिर यथा—शक्ति सेवाभाव से काम करने में प्रवृत्त हो जाओ। यह अखण्ड नियम है कि भावना के अनुकूल क्रिया करने पर कालान्तर में भावना करने वाले का वही स्वरूप बन जाता है, अर्थात् उसमें वही शक्तियाँ आ जाती हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

हर अवस्था में प्रसन्नचित रहने का स्वभाव बनाओ, ईश्वर पर पूरा विश्वास करो। अपने दुःख का कारण और को मत समझो।

आगे–पीछे का व्यर्थ चिन्तन न करो। वर्तमान में जो कुछ काम हो उसे यथाशक्ति नियमपूर्वक पूरा करने का प्रयत्न करो। परन्तु अनुकूल होने पर हर्ष और प्रतिकूल होने पर शोक मत करो, बल्कि उससे पार होने की भावना करो। यह संसार थियेटर की कम्पनी के समान है, इसलिए मालिक के सामने पार्ट करके दिखा देना है; लेकिन यह भलीभांति समझ लो कि पार्ट करने वाला एक्टर उसको सत्य नहीं मानता और सर्वदा उस क्रिया से अपने को अलग जानता है। इससे वह क्रिया वास्तव में दुःख–सुख का हेतु नहीं होती।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द
आपका अभेदस्वरूप

१७

प्रिय आत्मस्वरूप,

.....

११–१९३६

सच्चाई सबसे नजदीक है। उसके लिए सफर नहीं करना है। और न किसी बाहरी चीज की आवश्यकता ही है। बल्कि बुद्धि आदि हर एक को सच्चाई की भेंट कर देना है। जिस प्रकार दीपक सूर्य के निकलते ही अपने को उसके भेंट कर देता है। जब तक अपने को अपनी दृष्टि से अभय, शान्त तथा पवित्र न देख लो चैन से न रहो। दूसरों की दृष्टि में अच्छा बन जाना बड़ी बात नहीं है। क्योंकि वास्तव में अपने को अपनी ही दृष्टि से ठीक–ठीक देखा जा सकता है। सच्चाई कहीं दूर नहीं है। कुल झुलाई को फेंक देने पर सच्चाई अपने आप प्राप्त हो जाती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

१८

प्रिय आत्मस्वरूप,

अल्मोड़ा

.....

जो लोग शरीर के लिए संसार को समझते हैं, वे विषयों के दास हो वासनारूपी जाल में फँस कर दुःख उठाते हैं और जो शरीर को संसार के लिए समझते हैं वे संसार से पार हो नित्य आनन्द प्राप्त करते हैं।

ओम आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१६

प्रिय आत्मस्वरूप, ...

१९३६

इस जीवन के प्रत्येक श्वाँस का सदुपयोग करना चाहिये। सदुपयोग करने के लिए समय तीन प्रकार के कार्यों में बाँटना होगा– १– स्वार्थ को त्याग, परमात्मा के नाते, शरीर आदि से प्रत्येक क्रियाओं को सेवाभाव से करना। इस बात का अच्छी तरह से ध्यान रहे कि मन किसी भी क्रिया के बदले में प्रसन्नता तो नहीं खरीद लेता ? ऐसा करना तो बड़ी भूल है। २– हर समय आत्मचिन्तन करते हुए, स्वरूप में स्थित होने के लिए चित्त में तत्परता करते हुए, यदि स्थिति न हो तो, जिस प्रकार मछली जल के बिना तड़पती है, तड़पते रहना। ३–निज आनन्द की घटाओं से मन को भरकर, अर्थात् ध्याननिष्ठ हो, नित्य आनन्द हो, स्वरूप में स्थित हो, परम शान्ति प्राप्त करना।

विचारशील मनुष्य की कोई भी व्यर्थ चेष्टा नहीं होती। शरीर, मन तथा इन्द्रियों से व्यर्थ चेष्टा करने वाला मनुष्य कभी आत्मिक उन्नति नहीं कर सकता। इन्द्रियों से जगत् को सत्य देखना शरीर एवं इन्द्रियों की व्यर्थ चेष्टा है और आगे–पीछे की बातों का चिन्तन करना मन की व्यर्थ चेष्टा है। यह पत्र आपको प्रतिदिन पढ़ना चाहिए, जब तक कि सब बातें व्यवहार में न आ जाएँ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द
आपका अभेदस्वरूप

.....

२०

प्रिय आत्मस्वरूप, ...

१९३६

अध्यात्म–जगत् में पैर रखते ही–यह जो कुछ है–अर्थात् मन तथा इन्द्रियों के द्वारा जो जाना जाता है, वह उसका है, यह आस्तिक पुरुष की प्रथम अवस्था है। इस भाव के दृढ़ होने से मन सच्चिदानन्दघन, शुद्ध बोधस्वरूप परम तत्त्व में स्वाभाविक ही स्थिर हो जाता है। और मन के स्थिर होते ही, यह जो कुछ है, उसका ही स्वरूप है, ऐसा भाव होता है; क्योंकि मन का यह स्वभाव है कि यह जिससे सम्बन्ध करता है, उसका ही स्वरूप हो जाता है; क्योंकि मन वास्तव में स्वतः सत्ता

वाला तत्त्व नहीं है। यह तो अज्ञान के कारण आत्मा में अनात्म वस्तु की जो कल्पना है, बस यही मन का स्वरूप है। और यह नियम है कि कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न कुछ नहीं होती, और कल्पित वस्तु में जो सत्यता प्रतीत होती है, वह वास्तव में अधिष्ठान की होती है, वस्तु की कुछ नहीं। यह सब उसका ही स्वरूप है; ऐसा दृढ़ बोध होना दूसरी अवस्था है। और जो अन्तिम अवस्था है, वह वाणी के द्वारा कही नहीं जा सकती, किन्तु संकेतमात्र यह कह सकते हैं कि यह जो कुछ था, वह वास्तव में किसी काल में हुआ ही नहीं, ऐसा अनुभव ज्ञान वाले पुरुषों का कथन है। ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका अभेदस्वरूप

.....

२१

प्रिय आत्मस्वरूप, फतेहगढ़

१९३६

देखो भाई, बन्धन तथा सुख–दुःख किसी वस्तु के सम्बन्ध से नहीं होता, किन्तु कर्ता की अविवेक दृष्टि के कारण प्रत्येक वस्तु दुःख और बन्धन का कारण बन जाती है, और वही वस्तु विवेक दृष्टि से आनन्द का हेतु प्रतीत होती है। परन्तु इस बात का अच्छी तरह ध्यान रहे कि वस्तु में स्वयं सत्यता कुछ नहीं है, उसमें दृष्टि रखने वाले द्रष्टा की सत्यता से सत्यता होती है, इसलिए द्रष्टा को अपनी दृष्टि अपने में लीन करने से परमानन्द की प्राप्ति होती है। अतः यह सब कुछ ही, मुँह दिखावे के लिए उसकी भेंट करना होगा।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

२२

.....

प्रिय आत्मस्वरूप, १९३६

ज्यों–ज्यों इस क्षणभंगुर शरीर तथा असत्य वस्तुओं में अविश्वास बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्दघन अन्तरात्मा पर विश्वास होता है, उससे प्रेम स्वाभाविक ही हो जाता है। भगवद् प्रेम वह गणना है कि एक और एक मिलकर दो नहीं, किन्तु एक हो जाते हैं, और प्रेम वह ऐनक है, जिसके लगाने से भिन्न प्रकार की वस्तुएँ एक ही प्रकार की प्रतीत होती हैं। अर्थात् प्रेमी को अपने

प्रेम–पात्र के सिवाय कुछ भी नजर नहीं आता। सदा उसके ही दर्शन की इच्छा करना चाहिए कि जिसके एक ही बार दर्शन करने से चित्त सदा के लिए छिन जाता है। किन्तु उसके लिए जिस समय आपका मन इस प्रकार का बन जाय कि उसके बिना न रह सके और जिस प्रकार मछली जल के बिना तड़फती है, तड़फने लगे, बस उसी समय परम दयालु भगवान् स्वयं अपना लेंगे; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। देखो भाई, इस बात का आपको अच्छी तरह ध्यान रहे कि साधन में शिथिलता तो नहीं आती या नित्य आनन्द के बिना पूर्ण हुए ही कहीं मन सन्तुष्ट तो नहीं हो जाता या किसी क्रिया के बदले में प्रसन्नता तो नहीं खरीद लेता अथवा शुभ क्रिया मात्र से ही सन्तुष्ट होकर मन थक तो नहीं जाता, ऐसा होना बड़ी भूल है, अर्थात् अच्छाई के रूप में बुराई बन कर सत्य से विमुख कर देने वाली है। यह बात साधारण मनुष्य के समझ में नहीं आती, क्योंकि जब तक मन स्थायी भाव से आत्मस्वरूप में स्थित नहीं होता, उस समय तक नित्य आनन्द प्राप्त नहीं होता है और न शरीर–इन्द्रिय आदि तथा अपनी क्रियाओं से पार होता है। इसलिए आत्मा में स्थायी भाव से उसे प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। जब तक कोई आवश्यकता नहीं, आपको अधिक पत्र व्यवहार करना ठीक नहीं है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

२३

मेरे निजस्वरूप परम आस्तिक प्रिय....., १९३६

बहुत–बहुत प्यार, सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो। जाने हुए असत् का त्याग करने पर किए हुए, अर्थात् भुक्त–अभुक्त के परिणामस्वरूप चित्त के राज्य में जो सिनेमा प्रतीत होता है, उससे असहयोग कर निश्चिन्त तथा निर्भय होना है। तुमने अविचल आस्था, श्रद्धा तथा विश्वासपूर्वक जिनकी शरणागति स्वीकार की है, वे अपनी अहैतुकी कृपा से विवश हो स्वयं अपनी सेवा के योग्य बना लेते हैं, यह उनका स्वभाव ही है। परन्तु प्यारे, अपनी की हुई आस्था और उनकी दी हुई आस्था में एक बड़ा भेद है। अपनी की हुई आस्था में, 'मुझमें आस्था है' यह भासित होता है और जब वे आस्था प्रदान करते हैं, तब आस्था ही जीवन है–अर्थात् आस्था से भिन्न जीवन कुछ नहीं है, ऐसा

प्रतीत होता है। वे परम कृपालु अपनी आस्था के अधीन हो अखण्ड स्मृति तथा अगाध–प्रियता प्रदान करते हैं, यह उनकी महिमा है। अपना किया हुआ, करने की रुचि को पूरा करता है और कुछ नहीं। अतः यह पुकार रहे कि अविचल आस्था दीजिए, अपनी शरण लीजिए। असमर्थता की व्यथा में ही सच्ची पुकार है, जिसे वे परम कृपालु सुनते हैं और द्रवित हो जाते हैं–कारण कि वे करुणासागर हैं। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने साधन–जनित सुख का भोग नहीं किया और अहैतुकी कृपा का आश्रय लिया है।

जिस प्रकार अनन्तकाल का अन्धकार वर्तमान में नाश हो जाता है, उसी प्रकार जन्म–जन्मान्तरके विकार शरणागत होते ही स्वतः मिट जाते हैं। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। गुणों के अभिमान ने ही दोषों को नाश नहीं होने दिया। साधन का अभिमान ही असाधन का मूल है और असाधन के ज्ञान में ही असाधन का नाश है। अतः सब प्रकार से प्यारे प्रभु के होकर रहो। यही सफलता की कुंजी है। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ हैं। पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार ।

तुम्हारा

.....

२४

.....

प्रिय आत्मस्वरूप, १९३६

जो अत्यन्त प्रिय है, वही आनन्द का केन्द्र है, क्योंकि प्राणीमात्र आनन्द की इच्छा करता है और जब तक आनन्द प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक स्थिर नहीं होता। अत्यन्त प्रिय वही है, जिसका किसी काल में प्राणी त्याग नहीं करता। जिसका कभी त्याग नहीं करता, उसमें देश तथा काल की दूरी नहीं हो सकती, अर्थात् वह हर देश, हर काल में है, केवल न जानने की दूरी हो सकती है। इसलिए प्रिय मित्र, जो सर्वदा अत्यन्त समीप है, उसको जानो। अब विचार दृष्टि से देखिए कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि प्रत्येक वस्तु का त्याग कभी न कभी स्वयं हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो सर्व का जानने वाला है, उसके सिवाय और कोई शरीर आदि बाहरी वस्तु सर्वदा अत्यन्त समीप नहीं रह सकती। इसलिए प्रिय मित्र, आनन्द के लिए किसी बाहरी वस्तु की खोज मत करो। सर्व को जानने वाले को किसी और की सहायता से नहीं जान सकते; बल्कि जो कुछ जानने में आता

है, उससे विचार–पूर्वक ऊपर उठने पर उसका अनुभव स्वयं हो जाता है, जो आनन्द का भण्डार है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
तुम्हारा

.....

२५

पलिया कलाँ

प्रिय आत्मस्वरूप, १९३६

सत्य की खोज के लिए अपने को शरीरादि प्रत्येक असत्य वस्तु से ऊपर उठाना होगा। जब तक लेशमात्र भी संसार सुख–रूप, सत्य और सुन्दर मालूम होता है तो समझना चाहिये कि अभी इस अभागे मन में सत्य की तलाश नहीं है। इसलिए प्रिय मित्र विचार पूर्वक शान्त चित्त से इस संसार को भली–भाँति समझ लो। परन्तु अच्छी तरह ध्यान रखो कि जिसको जैसा समझो उसके साथ उस प्रकार का व्यवहार करो। अर्थात् अपने ज्ञान के विपरीत कोई भी क्रिया मत करो। विचार दृष्टि से देखिये कि ऐसी अनेक घटनाएँ देखने तथा सुनने में आती हैं कि थोड़े ही समय में कुछ का कुछ हो जाता है। परन्तु साधारण मनुष्य की उस पर दृष्टि नहीं होती। इससे बार–बार संसार–सागर में गोते लगाता है। परन्तु विचारशील मनुष्य अखण्ड प्रयत्न कर इससे पार हो जाता है। आगे और पीछे का व्यर्थ चिन्तन मत करो, बल्कि वर्तमान समय का सदुपयोग करने के लिए हर समय ध्यान रखो क्योंकि ऐसा करने से भविष्य तो सँभल ही जाता है और बिगड़े हुए भूतकाल का भी प्रभाव जाता रहता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

२६

.....

प्रिय आत्मस्वरूप, १९३६

क्या यह आप भलीभांति अनुभव नहीं कर चुके हैं कि दुःख वास्तव में देह को अपना स्वरूप समझने पर ही उत्पन्न होता है। ऐसा कोई भी दुःख नहीं है कि जो शरीर को अपना आप न समझने से सदा के लिए न मिट जाए। क्योंकि सब प्रकार के दुःख शरीर को अपना

आप समझने पर ही होते हैं, और इस भूल के निकल जाने पर सभी दुःखों का अन्त अपने आप हो जाता है। यह अखण्ड नियम है कि जब तक हम अपने को शरीर समझते हैं तभी तक दूसरे के शरीर तथा संसार के अनेक पदार्थों में आसक्त हो उनके गुलाम बन जाते हैं। और यह विचार करने पर स्वयं अनुभव होता है कि जब हम अपने आपको किसी काल में भी शरीर अनुभव नहीं करते तब हमको किसी भी पदार्थ की इच्छा तथा किसी भी शरीर से मिलने तथा दर्शन करने की अभिलाषा बाकी नहीं रहती, और न कुछ करने के लिए तथा जानने के लिए शेष रहता है, बल्कि मानव आत्मभाव को प्राप्त हो नित्य आनन्द का अनुभव करता है। वास्तव में तो उस महापुरुष की दृष्टि में सृष्टि का लेशमात्र भी स्वरूप शेष नहीं रहता।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

२७

.....

प्रिय आत्मस्वरूप, १९३६

अपने से भिन्न किसी वस्तु को सुख का साधन समझना परम भूल है क्योंकि इसी भूल के होने पर किसी न किसी प्रकार की वासना तथा मलिन अहंकार अर्थात् मैं शरीर हूँ इस भाव की उत्पत्ति होती है जो सर्व दुःखों का मूल है।

शरीर–भाव और संसार दोनों बीज और वृक्ष के समान हैं। शरीर–भाव रूपी बीज के होने पर संसार–रूपी वृक्ष प्रतीति मात्र उत्पन्न होता है। और संसाररूपी वृक्ष में अनन्त शरीरभाव रूपी बीज दिखाई देते हैं। यह दोनों स्वरूप से अभेद और प्रतीति मात्र भेद वाले मालूम होते हैं। वास्तव में दोनों एक हैं। ऐसा मेरा अनुभव है।

देखिए, जो वस्तु उत्पन्न होती है वही नाश होती है। जो वस्तु नाश होती है वह अपनी निजी सत्ता कुछ नहीं रखती। बल्कि जिससे उत्पन्न होती है उसकी ही सत्ता से सत्ता वाली होती है। उत्पन्न होने के कारण अन्त होने पर उस वस्तु का, जो उत्पन्न हुई है, सदा के लिए अन्त हो जाता है। ऐसा विचार दृष्टि से देखने में आता है।

संसार रूपी वृक्ष, शरीरभाव रूपी बीज से, प्रतीति मात्र उत्पन्न

होता है, स्वरूप से नहीं। क्योंकि जो वस्तु स्वरूप से होती है उसका किसी काल में अन्त नहीं होता। परन्तु संसार का अन्त देखने में आता है। इसलिए सिद्ध हुआ कि संसार स्वरूप से कोई वस्तु नहीं केवल प्रतीति मात्र है। जिस प्रकार दर्पण में मुख न होते हुए भी प्रतीत होता है। शरीर–भाव रूपी बीज तथा संसार रूपी वृक्ष उससे ही उत्पन्न होता है जो तत्त्व वेत्ताओं का निज स्वरूप तथा भक्तों का भगवान् है। इसमें कुछ सन्देह नहीं है। अतएव सारा विश्व आपका निज स्वरूप ही सिद्ध हुआ। इसलिए विश्व में अपने को और अपने में विश्व को अनुभव करो, ऐसा करने पर जीवन में किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती। और ऐसा बिना अनुभव किये पूर्णता कभी प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसा मेरा विश्वास है।

ऐसा अनुभव करने के लिए अपने में स्थाई भाव से सर्व शक्तिमान् सच्चिदानन्दघन शुद्ध बोध–स्वरूप भगवान की स्थापना करो। अर्थात् 'वह मैं हूँ' ऐसा करने पर विश्व से एकता स्वयं अनुभव होगी और हृदय स्वाभाविक विश्व प्रेम से भर जायगा। मन सदा निजानन्द की लहरों में लहरायेगा। सब ओर अपना आप ही नजर आयेगा।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

.....

२८

.....

प्रिय आत्मस्वरूप, ...१९३६

विचारशील वह पुरुष है जो जब तक अपने को अपनी दृष्टि से पवित्र, शान्त तथा आनन्दमय नहीं देख लेता, उस समय तक सन्तुष्ट नहीं होता। दूसरों की दृष्टि में अच्छा बन जाना कोई कठिन बात नहीं है, क्योंकि अपने आपको धोखा देना ही महा पाप है। परन्तु जब तक वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं करता तब तक शान्ति प्राप्त होती नहीं है। इसलिए विचार इस बात पर करना है कि दुःख का कारण क्या है? विचार करने पर मालूम होगा कि दुःख का कारण अज्ञान के सिवाय कुछ है ही नहीं। और अज्ञान, ज्ञान से ही दूर हो सकता है, और ज्ञान, उस आत्मा का स्वरूप है जो मन तथा बुद्धि और इन्द्रियों का विषय नहीं, किन्तु बुद्धि आदि जिनकी सत्ता से अपने सत्त्व को बनाए रखती हैं। यह नियम है कि हर वस्तु वास्तविक केन्द्र तक पहुँचे

बिना ठहरती नहीं। इसलिए उसको अपने में देख लेना और उसके सामने सब कुछ छोड़ देना ही परम पुरुषार्थ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

२९

फर्रुखाबाद

प्रिय आत्मस्वरूप, ७—४—१९३७

जो हर काल में अखण्ड, एक—रस तथा आनन्दघन है उसका अनुभव करना ही आस्तिकता है। केवल मान कर ही सन्तुष्ट हो जाना भूल है। क्योंकि वास्तव में जो है उसको जानना चाहिए। जो हर काल में नहीं है उससे ऊपर उठने पर जो है उसका अनुभव स्वयं हो जाता है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। वर्तमान जीवन को अपनी दृष्टिसे आप देखने पर जब तक पूर्णता प्राप्त नहीं होती तब तक हृदय में असन्तोष तथा बेचैनी उत्पन्न अवश्य होती है। असंन्तोष तथा बेचैनी को आगे—पीछे का व्यर्थ चिन्तन कर, आशा रूपी जाल में फँस कर,—दुर्बल कर दबा देना भूल है। अर्थात् झूठा सन्तोष करके बेचैनी को शान्त नहीं करना चाहिए। बल्कि यथाशक्ति जब तक पूर्ण सन्तोष न हो बेचैनी बढ़ाते रहना चाहिए। यहाँ तक कि बेचैनी स्वयं बेचैन होकर सदा के लिए विदा हो जाय।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

३०

बस्ती

प्रिय आत्मस्वरूप, अप्रेल १९३७

आनन्द का केन्द्र, सर्वदा अत्यन्त समीप है। उसका अनुभव करने के लिए किसी बाहरी सहायता की खोज करना महान दुःख का हेतु है। परन्तु ऐसा वह कर सकता है कि जिसको स्वाभाविक रूप से हर समय बिना यत्न किये यह अनुभव होता है कि मैं शरीर किसी काल में नहीं हूँ। ऐसा होने पर ध्यान अपने आप हो जाता है क्योंकि शरीर से अभेदता, अर्थात् एक होने पर वासनाओं की उत्पत्ति होती है। और वासनाओं का उत्पन्न होना ही ध्यान का विघ्न है। अतएव

शरीर से असंग अर्थात् ऊपर उठने से वासनाएँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं और वासनाओं के नष्ट होने पर ध्यान अवश्य हो जायगा—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। परन्तु इसके लिए आत्मा पर पूरा विश्वास कर—मरने से पहले—जीते जी मरना होगा। अर्थात् शरीर आदि अपना सब कुछ सप्रेम, प्रसन्नता पूर्वक समर्पण करना होगा। प्रिय,..... हर समय ध्यान रखो कि हम शरीर नहीं हैं बल्कि जल प्रवाह के समान हृदय आत्म—भाव से भरते रहना चाहिए।

हर एक कार्य करते समय यह सद्भाव से दृढ़ भावना हो कि हम भगवान् की सेवा कर रहे हैं। यहाँ तक कि यदि आप हाथ तथा मुँह धो रहे हों, हृदय में यह भावना हो कि हम भगवान् का हाथ तथा मुँह धो रहे हैं क्योंकि वास्तव में सब कुछ उसका है जिसकी सारी दुनियाँ है। ऐसा अनुभव कर लेना ही सच्ची आस्तिकता है। हर समय प्रसन्नचित्त रहने का स्वभाव बनाओ। अपने को कभी शरीर मत समझो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

३१

बस्ती

भगवन्, अप्रेल, १९३७

हर समय लगातार यही भली प्रकार ध्यान रहे कि जिसका यह सब कुछ है, उससे भेद न होने पाए, अर्थात् उसकी सेवा—पूजा तथा उसके ध्यान में ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि प्रवृत्त रहें, क्योंकि सम्बन्ध तथा प्रेम वह वस्तु है जो क्षण भर के लिए भी टूटता नहीं बल्कि स्थायी होता जाता है और प्रेमी प्रेमपात्र से अभेद हो जाता है—इसमें कुछ सन्देह नहीं। परन्तु प्रेम एक से ही संभव है, अनेक से नहीं। प्रेमी को तो एक में अनेक और अनेक में एक का स्वाभाविक, बिना यत्न किये, अनुभव होता है। ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका अभेदस्वरूप

.....

३२

फतेहगढ़

प्रिय आत्मस्वरूप, २१—४—१९३७

जो विचारशील पुरुष अपने को मल—मूत्रपूर्ण क्षण—भंगुर शरीर से ऊपर उठा लेता है, वही संसार से पार हो जाता है, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जिसकी आवश्यकता शरीर के लिए न हो। हृदय को अपनी दृष्टि से स्वयं देखो कि उसमें कौन सी भावनाएँ अंकित, अर्थात् बैठी हुई हैं। जिस प्रकार की भावनाएँ होती हैं, उसी के अनुरूप इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रवृत्ति अपने आप होती है। भावना के प्रतिकूल इन्द्रिय, मन, बुद्धि की प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती, यह अखण्ड नियम है। वास्तव में सत्य भावनाओं से अतीत है, परन्तु अपवित्र भावनाओं (विषयों की गुलामी) के नष्ट करने के लिए हृदय में पवित्र भावनाएँ जितेन्द्रियता, सदाचार, सेवा, त्याग हर समय स्वाभाविक रूप से रहनी चाहिए, क्योंकि सत्य कल्पवृक्ष के समान है। जिस प्रकार की भावनाएँ होती हैं उसी के अनुरूप शक्तियाँ कर्ता में स्वयं आ जाती हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। शरीर को अपना आपा समझने से अपवित्र भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और आत्म—भाव उत्पन्न होने पर सब भावनाओं का अन्त हो जाता है तथा हृदय नित्यानन्द से भर जाता है। प्रिय मित्र, जब तक हृदय से विषयों की वासना का अन्त नहीं होगा, तब तक, जो हर काल में अखण्ड, एकरस तथा आनन्द का केन्द्र है, उसका अनुभव कदापि नहीं हो सकता। वासनाओं का अन्त आत्म—ध्यान से, आत्म—ध्यान त्याग से, त्याग—सेवा से और सेवा सदाचार से ही सम्भव है।

वास्तव में उसे ही अपना सच्चा जीवन समझना चाहिए कि जो स्वाभाविक रूप से, बिना यत्न किये जीवन का अंग बन जाता है। सदाचार कहीं बाहर से खरीदने की वस्तु नहीं है, वह तो अपने आप उत्पन्न होने की वस्तु है। वह बुराइयों (विषयों की गुलामी) से ऊपर उठ जाने पर अपने आप उत्पन्न होता है। हृदयगत सद्भावनाओं को बाहर से भरने की जो कोशिश की जोयगी वह स्थायी नहीं बन सकती, अर्थात् वह जीवन का स्वरूप नहीं हो सकती और कच्चे रंग के समान किसी घटना—विशेष के घटित होते ही उड़ जाती है। इसलिए हर समय इस बात पर अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिए कि स्वाभाविक

गति क्या है? और सरलता के साथ प्रत्येक काम को हृदय की गति के अनुकूल, पवित्र भाव से करने का स्वाभाविक यत्न करना चाहिए। किसी बाहरी सहायता की खोज कभी मत करो, क्योंकि बाहरी सहायता आत्म–विश्वास से विमुख करती है। ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

अकिन्चन

.....

३३

चित्रकूट

प्रिय आत्मस्वरूप, ११—९—१९३७

अपनी विचार–दृष्टि से देखो कि अपने लिए क्या चाहते हो, अर्थात् किसके प्राप्त करने पर किसी प्रकार की कमी नहीं रहेगी यानी पूर्णता प्राप्त होगी। इसका भलीभाँति निश्चय करना ही जीवन का परम लक्ष्य कहा जाता है। जो चाहते हो, जब तक वह प्राप्त न हो, तब तक प्राप्त न होने का दुःख लगातार बढ़ते रहना चाहिए। यहाँ तक कि फिर किसी प्रकार से भी सहन न हो। ऐसा होने पर जो चाहते हो वह अवश्य प्राप्त होगा। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, परन्तु चाह सच्ची होनी चाहिए। सच्ची चाह होने पर ही उसके पूरे न होने का दुःख इस प्रकार होता है कि वह सहन नहीं होता। जीवन की सारी क्रियाएँ एक ही लक्ष्य के लिए होनी चाहिए, क्योंकि यही सच्चाई है। क्रियाएँ स्वरूप से देखने में भिन्न–भिन्न प्रकार की भले ही हों, परन्तु उन सबका लक्ष्य एक होना चाहिए, यह भली–भाँति समझने की बात है। ऐसा होने पर सारा जीवन लक्ष्य की पूर्ति का साधन बन जाता है, जिससे जीवन–यात्रा सुलभ तथा सरल हो जाती है और लक्ष्य की पूर्ति अवश्य होती है।

लक्ष्य एक ही सच्चा होता है। क्रियाओं में अनेकता होती है, लक्ष्य में नहीं। इसलिए क्रियाओं को लक्ष्य कभी मत समझो, बल्कि क्रियाओं के अन्त होने पर लक्ष्य पर सदैव दृष्टि रक्खो और जब तक लक्ष्य न प्राप्त हो, चैन से न रहो।

शारीरिक दशा कहने में नहीं आती, क्योंकि कथन उसका हो सकता है, जो एकसा रहे। इस सराय में रोग –रूपी मुसाफिर तो ठहरे ही रहते हैं। वास्तव में तो जीवन की आशा ही परम रोग और निराशा

ही आरोग्यता है। देह--भाव का त्याग ही सच्ची औषधि है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा .....

३४

चित्रकूट

प्रिय आत्मस्वरूप, ११—१०—१९३७

जब हम अपने को शरीर समझते हैं तब दूसरे से मोह उत्पन्न हो जाता है, यह स्वाभाविक अवस्था है। परन्तु जब भगवान् की कृपा से विचार की उत्पत्ति होती है, तब "मैं शरीर हूँ" यह भाव नष्ट हो जाता है। इसके होते ही सारे शरीरों में अपने को और अपने में सारे शरीरों को अनुभव कर चित्त सन्तुष्ट हो जाता है, जिससे मोह का अभाव होकर शुद्ध प्रेम हो जाता है। फिर क्रिया—शक्ति सेवा—भाव में, भाव—शक्ति आत्म—अनुराग में और विचार—शक्ति आत्म—अनुभव में स्थायी रूप से लग जाती है, अर्थात् जो कार्य वर्तमान में उपस्थित हो उसमें सारी वृत्तियाँ लगाकर करने पर वह कार्य आनन्द का हेतु प्रतीत होता हो, और उसके करने में किसी प्रकार का संकोच न हो, और न किसी प्रकार का अहित हो, अर्थात् शारीरिक तथा सामाजिक उन्नति का प्रतिबन्धक न हो और उसके पूरा होने पर त्याग स्वाभाविक हो जाय और होना न होना अपने लिए समान ही प्रतीत हो, तब सेवा भाव की क्रिया समझनी चाहिए। ऐसा तब ही होगा, जब हम सबको आत्मभाव से अनुभव करने का प्रयत्न करेंगे, अर्थात् सारे विश्व को अपना स्वरूप समझेंगे और अनुराग, प्रत्येक वस्तु के नाम रूप को हटाकर, अपने को देखकर करेंगे।

जिस प्रकार दर्पण में अपने मुख को देखनेवाला, अपने मुख का अनुभव तथा अनुराग करता है, उसे यह प्रतीत नहीं होता कि मैं किसी और को देख रहा हूँ तथा किसी और को प्यार कर रहा हूँ। यह दशा मन के आत्मानुरागी हो जाने पर होती है। विचार उस शक्ति का नाम है जिससे अपने लक्ष्य का बोध होता है। जो कुछ, मन तथा इन्द्रियों से जाना जाता है, उससे सन्तुष्ट हो, जो सबको जानता है, उसके बोध के लिए प्रयत्न करना केवल रह जाता है। उसका बोध किसी और की सहायता से नहीं होता। बल्कि सबको त्याग व उस पर ही पूरा विश्वास करने से एक ऐसी ज्ञान रूपी धारा उत्पन्न होती है जिससे

उसका अनुभव स्वयं हो जाता है। जब तक लेशमात्र भी किसी की आशा है, तब तक समझना चाहिए कि अभी विचार की उत्पत्ति नहीं हुई और न सच्ची आस्तिकता समझनी चाहिए। क्योंकि परमात्मा का मानना आस्तिकता नहीं है बल्कि उसका जानना आस्तिकता है। केवल मानकर ही सन्तोष करना, बड़ी भूल है, अर्थात् अच्छाई के रूप में बुराई तथा नास्तिकता, आस्तिकता के स्वरूप में है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
तुम्हारा

.....

३५

.....

प्रिय आत्मस्वरूप, ११—१०—१९३७

कामना ही क्रोध में हेतु है, चाहे वह शुभ कामना हो अथवा अशुभ। यद्यपि अशुभ से शुभ श्रेष्ठ है, परन्तु शुभ कामना भी दुःख का कारण है। कामना देहाभिमान से उत्पन्न होती है। देह—अभिमान गलत ज्ञान से, यानी ज्ञान की कमी से उत्पन्न होता है, जो सर्व पाप का मूल है। ज्ञान की कमी विचार से, विचार त्याग से, त्याग विचारवानों की सेवा तथा आज्ञा—पालन से होता है। जब तक अपने में किसी प्रकार की कमी शेष है, तब तक ही बाहर से आने वाले आक्रमण, प्रभाव डालते हैं अथवा दुःखी करते हैं। दुःख अपनी कमी से होता है, दूसरों से नहीं। जब तक कोई भी अपने से कम मालूम पड़े तब तक समझना चाहिए कि मन शुद्ध नहीं हुआ। मन शुद्ध होने पर गुणहीन पुरुष के प्रति भी आदर के भाव होते हैं, जिस प्रकार सूर्य मल—मूत्र को भी अपना प्रकाश देता है। यदि भक्त बनना चाहते हो तो गुणहीन पुरुष को भी आदर के भाव से देखो। देखो, जो गुणहीन पुरुष, जिसको तुम बुरा समझते हो अर्थात् अपने से कम समझते हो, वह भी प्रभु की धूप, वायु, जल आदि को पाता है उसी प्रकार जिस प्रकार गुणवान।

प्रभु के भक्त बनने के लिए प्रभु के स्वभाव को, जो गुणहीन का भी आदर करते हैं, धारण करना होगा प्रेम करो, गुलामी नहीं। प्रेम के बदले में किसी प्रकार की आशा करना गुलामी है। केवल प्रेम करना है, जो भगवान का स्वरूप है। प्रेमी के हृदय में कामना तथा क्रोध उत्पन्न नहीं होता, ऐसा मेरा अनुभव है। यदि किसी के साथ कोई

भलाई की हो तो उसे भूल जाओ—नहीं तो देह—अभिमान नहीं मिट सकता। यह अखण्ड सिद्धान्त है। भलाई भगवान् की कृपा से होती है। देह—अभिमान के कारण मालूम होती है कि हमने यह भलाई की है। इस भूल के होने से भलाई बुराई का स्वरूप बन जाती है, अर्थात् भलाई के फल से तो मन शुद्ध होना था—कि जिसके होने से हृदय आत्मानुराग से भर जाता, पर नहीं होता, बल्कि भलाई करने का अभिमान बने रहने पर देह—अभिमान तथा गलत ज्ञान बना रहता है, जो दुःख का मूल है। यदि विचार—दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि जिस भलाई का हम अभिमान करते हैं वह बिल्कुल झूठा है। परन्तु यह बात साधारण व्यक्ति की समझ में नहीं आती। देखिये, जब यह नियम है कि अपने ही कर्म का फल अपने को मिलता है तो जिसको तुम्हारे हाथों से सुख मिल रहा है, वास्तव में वह उसके ही कर्म का फल है। किसी विशेष शक्ति की प्रेरणा से तुम्हारे हाथ मजबूर हैं उसको सुख देने के लिए। यदि भाव की पवित्रता है,अर्थात् यह समझते हो कि हम भगवान् की सेवा कर रहे हैं तो इस पवित्र भाव से ही तुम्हारा मन शुद्ध होगा, जो परम सुख का मूल है। जिसकी सेवा की जाय उसका विशेष अहसान समझना विचारशील का काम है, क्योंकि सेवा करने से ही तो मन शुद्ध होगा। उस पर अहसान जताना और मन में अभिमान रखना, अविचारी का काम है। अविचार दुःख का मूल है। भगवान् की कृपा से यदि कोई भलाई हो गई हो तो भूल जाओ, ऐसा करना ही परम तप है, यानी मन ऐसा हो जाय कि इसकी स्मृति भी न रहे कि हमने कुछ किया है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

३६

फर्रुखाबाद

प्रिय आत्मस्वरूप, ...१९३७

आप जिस साधन को करते हैं, उसको स्थायी रूप से जीवन का अंग बनाइये, अर्थात् चलते—फिरते, उठते—बैठते, हर घण्टे में कम—से—कम कुछ मिनट उसे जरूर करना चाहिए। परन्तु साधन करते हुए लक्ष्य पर (जिसको प्राप्त करना है) दृष्टि (हार्दिक भाव) रखनी चाहिए। जिस प्रकार भोजन करते समय हृदय में यह भावना होती है कि भूख अवश्य

दूर हो जावेगी और भूख दूर होने पर भोजन की क्रिया समाप्त भी हो जाती है, इसी प्रकार हृदय में सद्भाव से यह भावना हो कि साधन करने से लक्ष्य अवश्य प्राप्त होगा। लक्ष्य पूरा होने से साधन अपने आप समाप्त हो जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

३७

फतेहगढ़

प्रिय आत्मस्वरूप, ...१९३७

सत्य किसी बाहरी सहायता से नहीं पाया जा सकता । इसकी प्राप्ति के लिए असत्य के त्याग के सिवाय और कोई साधन कदापि नहीं है और त्याग, करने वाला अपने आप स्वयं कर सकता है, कोई दूसरा नहीं कर सकता। क्योंकि प्रिय मित्र ! अनेक प्रिय वस्तुएँ स्वरूप से छूट चुकी हैं, किन्तु उनकी सुन्दरता और चाह बाकी है। इसलिए वस्तुओं के त्याग का फल कुछ नहीं मिलता। वास्तव में तो चाह का त्याग ही त्याग है, क्योंकि चाह के समूह का नाम ही अहंकार तथा खुदी है। इसलिए चाह के त्याग होने पर अहंकार गल जाता है और अहंकार के गल जाने पर सत्य का अनुभव अवश्य ही होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। असत्य की जरूरत नहीं और सत्य सब काल में सदा है, इसलिए दूर नहीं।

चाह किसकी की जाय ? अहंकार चाह के आधार से अपने को जीवित रखना चाहता है। प्रिय, चाह के त्याग से ध्यान स्वयं हो जाता है। इसलिए हर समय देखते रहो कि कोई चाह तो नहीं उठती है। यदि उठती है तो उसे भगवान् के अर्पण कर दो।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर प्रत्येक वस्तु में होते हैं। जिस प्रकार आम है, जिसको हाथ से पकड़ सकते हैं—वह उसका स्थूल शरीर है, और रूप—स्वाद—सूक्ष्म शरीर है, उसको हाथ से नहीं पकड़ सकते, परन्तु जान सकते हैं, देख सकते हैं, चख सकते हैं और जिसमें वह स्वाद इत्यादि ठहरे हुए हैं—वह कारण शरीर है। वह सूक्ष्म बुद्धि से जाना जाता है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर दोनों ही बदलते हुए देखने में आते हैं। क्योंकि यदि उस आम को दूसरी चीजों का संग करा दें तो

उसका स्वरूप, स्वाद इत्यादि अर्थात् उसका स्वभाव बदल जाता है परन्तु आम अनार नहीं हो जाता। इसलिए कारण शरीर वही रहता है। वह तो वगैर नष्ट किये नहीं मिटता। जो हाथ से पकड़ा जा सकता है—वह स्थूल शरीर है। और जिस प्रकार के विचार, भावनाएं अन्तःकरण में मौजूद हैं और जिनके जाग्रत होते ही स्थूल शरीर क्रिया करता है—वह सूक्ष्म शरीर है। और जिसमें वह भावनाएँ ठहरी हुई हैं—वह कारण शरीर है।

अब विचार—दृष्टि से देखिए कि वह क्या है ? वह 'मैं' कि जो अपने को स्त्री तथा अनेक कल्पनाओं के अन्दर कैद किये हुए है, उसका वास्तविक स्वरूप अज्ञान ही कहा जा सकता है। अर्थात् अज्ञान ही कारण शरीर है। वह कारण शरीर आत्मा के ज्ञान से नष्ट हो जाता है। और उसके नष्ट होते ही स्थूल और सूक्ष्म बदलते रहते हैं, नष्ट नहीं होते। इसलिए आत्म—भावना से कारण शरीर को जला दो। ऐसा करने पर अखण्ड ध्यान तथा समाधि अवश्य हो जायगी। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

३८

फतेहगढ़

भगवन्, ...१९३७

प्रत्येक क्षण, प्रत्येक श्वाँस काल रूपी अग्नि में लगातार जल रहा है। उस पर दृष्टि रख, जीवन की आशा को त्याग, मरने से पहले जीते—जी मर जाना चाहिए, अर्थात् जीवन तथा मृत्यु के स्वरूप में भेद मिटा देना चाहिए। ऐसा होने पर आपको अपने वास्तविक स्वरूप का बोध अवश्य होगा और ऐसा होने से यह सर्व जगत् , जो प्रतीत होता है, लय हो जाता है, वही आपका वास्तविक स्वरूप है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। देह में आत्म—बुद्धि का त्याग होने पर जीवन और मृत्यु में भेद नहीं रहता, ऐसा अनुभव करने वाले महापुरुषों का कथन है।

विचार—दृष्टि से देखिए। 'मैं शरीर हूँ'— यह भाव होने पर अनेक वासनाओं की उत्पत्ति होती है और वासनाओं के अनुरूप बुद्धि की प्रवृत्ति होती है, और बुद्धि की आज्ञानुसार मन, इन्द्रिय आदि कार्य

करते हैं। परन्तु 'मैं शरीर हूँ' यह भाव नष्ट होने पर वासनाओं का अन्त हो जाता है और वासनाओं के अन्त होने पर बुद्धि क्रिया–रहित हो स्थिरता प्राप्त करती है और जिससे फिर सत्य का अनुभव स्वयं हो जाता है।

सत्य के अनुभव के लिए किसी बाहरी सहायता की खोज करना भूल है, क्योंकि सत्य अनेक नहीं हो सकते और असत्य से सत्य जाना जा नहीं सकता, बल्कि जब हम असत्य का सहारा पकड़ते हैं, तब सत्य से विमुख हो जाते हैं। असत्य से ऊपर उठने पर सत्य का अनुभव स्वयं हो जाता है।

..... एक पर ही पूरा विश्वास करो, जीवन तथा मृत्यु में भेद न समझो, वर्तमान समय में जो कार्य उपस्थित हो उसको पूरा कर, आगे और पीछे का व्यर्थ चिन्तन मत करो। यह सदा ध्यान रखो कि जीवन–यात्रा भगवत् सेवा तथा भगवत्–स्मरण के सिवाय और किसी भी कार्य में न लगे, अर्थात् प्रत्येक कार्य का स्वरूप भगवत्–सेवा हो जाना चाहिए। ऐसा होने पर भगवत्–ध्यान अपने आप हो जाता है। देखिए, जब हम किसी काम को भगवत्–सेवा के भाव से करते हैं, तब फिर उस काम का प्रभाव मन पर भगवत्–अनुराग के सिवाय और कुछ नहीं पड़ता, और न फिर किसी छोटे तथा बड़े काम में भेद ही प्रतीत होता है। भगवत्–सेवा करने वालों का ऐसा अनुभव है। भगवत्–प्रेमियों का जीवन तथा काम अपने लिए कुछ नहीं रह जाता, बल्कि अन्त में प्रेमी और प्रेम–पात्र में किसी प्रकार की दूरी तथा भेद नहीं रहता, अर्थात् अखण्ड अभेदता प्राप्त होती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

३६

टूँडला

प्रिय आत्मस्वरूप, १७–२–१९३८

अपने को शरीर समझने पर मोह की उत्पत्ति होती है, जो दुःख का मूल है। प्रेम आत्मा का स्वरूप है। प्रेम और मोह दोनों प्रकाश और अन्धकार के समान हैं। प्रेम से मोह का और प्रकाश से अन्धकार का नाश होता है। यह भली भाँति समझ लो कि अन्त उसी वस्तु का होता

है जो स्वरूप से कुछ नहीं होती, बल्कि किसी कारण से प्रतीति–मात्र होती है। प्रकाश की कमी से अन्धकार और अविचार के कारण प्रेम को शरीर में बाँध देने से मोह की प्रतीति होती है। देखिए, जिस प्रकार गंगा का पवित्र जल, जो आनन्द का हेतु है, गढ़े में बँध जाने से अनेक विषैले कीड़ों को उत्पन्न कर दुःख का कारण होता है, इसी प्रकार पवित्र प्रेम मलमूत्र–पूर्ण शरीर में बँध जाने से अनेक वासना रूपी कीड़ों को उत्पन्न कर महान दुःख का कारण होता है। मोह से स्वार्थपरायणता तथा विषयों से राग स्वाभाविक होता है। और प्रेम से मन, राग–रहित हो निजानन्द का अनुभव करता है तथा हृदय विश्वप्रेम से भर जाता है। अतएव प्रिय मित्र, पवित्र प्रेम को शरीर में मत बँधने दो। वास्तव में यही पाठ उत्तम है–जिसे हर दम पढ़ना चाहिए। इसके पढ़ने से शान्ति अवश्य प्राप्त होगी–ऐसा मेरा विश्वास है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

४०

टूण्डला

प्रिय आत्मस्वरूप, १७–२–१९३८

जो सकल्प उत्पन्न हो चुके हैं, अर्थात् काम के स्वरूप में सामने हैं, उनको विचारपूर्वक, सेवा–भाव से, पूरा करो और नए संकल्प उत्पन्न मत होने दो। यही सर्वोत्तम साधन है, जिससे दुःख तथा संसार का अन्त अवश्य हो जाता है।

संकल्पों का अन्त आत्म–भाव तथा भगवत्–परायणता से होगा। कोई भी बाह्य कारण उपस्थित न होने पर विमलता–पूर्वक, प्रेमी का प्रेम–पात्र में विलीन होकर स्थिर भाव का प्राप्त हो जाना भगवत्–परायणता है। ऐसा हो जाने पर भगवत्–स्वरूप का अनुभव स्वयं होगा। परन्तु जब तक सारी क्रियाएँ प्रयोजन–रहित नहीं होगीं, तक तक भगवत्–परायणता सर्वथा असम्भव है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

४१

बस्ती

प्रिय आत्मस्वरूप, १८—६—१९३८

हर्ष शोक से, भोग रोग से, संयोग वियोग से रहित नहीं है। अतएव धीरज धारण कर विचार—पूर्वक यथाशक्ति कर्त्तव्य पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए मोहवश मृतक मनुष्य का स्मरण कर दुःखी होने से मृतक के सूक्ष्म शरीर को दुःख अधिक होता है, क्योंकि जब तक सम्बन्ध शेष रहता है, तब तक उसे दूसरी योनि धारण करने में विलम्ब होता है। यदि सद्भाव से, प्रसन्नतापूर्वक मृतक मनुष्य से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाए, तो फिर वह अपने कर्मों के अनुसार शीघ्र, सुगमता से दूसरी योनि धारण कर लेता है। इसलिए हृदय से सम्बन्ध तोड़ना परम आवश्यक है। यदि हो सके तो सर्वान्तर्यामी आनन्दघन—भगवान् से थोड़े—थोड़े समय बाद, बार—बार प्रार्थना करो कि वह मृतक पुरुष की आत्मा को शान्ति प्रदान करें। इस प्रकार का चिन्तन २४ घण्टे में कई बार करना चाहिए जब—जब मोह के आवेश के कारण उनका स्मरण हो, तब—तब हृदय में यह भावना करो कि आपका हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं है।

दुःख में धैर्य धारण करना विचारवान् का कर्तव्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

४२

प्रिय आत्मस्वरूप ! बस्ती

ता० १०—७—३८

अपने जीवन का भली प्रकार पाठ पढ़ने से हृदय में एक अजीब सी विचार—धारा उत्पन्न होती है, ऐसा मेरा अनुभव है। यदि उस उत्पन्न विचार—धारा को जीवन का प्रोग्राम (कार्य—क्रम) बना लिया जाय तो जीवन का परम लक्ष्य (aim) भयरहित नित्य—शान्ति, अवश्य प्राप्त होती है।

जीवन का जो स्वरूप सामने है, उससे सच्चा सन्तोष (पूर्णता) अपनी दृष्टि से अपने को प्राप्त है या नहीं— ऐसा देखिये। सच्चा

संतोष होने पर किसी प्रकार की अभिलाषा तथा कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। यदि सच्चा संन्तोष नहीं है, तो जिस प्रकार के जीवन का स्वरूप देखना चाहते हो, जिससे सच्चा संतोष होगा, इसपर विचार कीजिये। जैसा देखना चाहते हो उसकी अभिलाषा स्थायी अचल है या नहीं ? स्थायी अभिलाषा एक ही होती है, अनेक नहीं। कभी कुछ, और कभी कुछ, यदि ऐसी अभिलाषा हो तो समझना चाहिए कि अभी अभिलाषा स्थायी नहीं है, इसलिए अभिलाषा को स्थायी बनाओ।

जो अभिलाषा है, उसके पूरा होने के लिए स्थायी साधन है या नहीं ? जब तक साधन में सद्भाव नहीं होता, तब तक साधन स्थायी नहीं होता। साधन स्थायी होने पर जीवन–यात्रा सुलभ हो जाती है और सफलता अवश्य प्राप्त होती है। साधन की खोज बिना किये चैन से मत रहो। सच्चा साधन मिलने पर, साधन जीवन का स्वरूप बन जाता है, नहीं तो साधन करना एक बोझ सा रहता है और उत्साह शिथिल होकर साधन धीरे–धीरे मिट जाता है। सच्ची चाह होने पर साधन स्वयं मिल जाता है, क्योंकि जिसके सामने चाह रहती है, वह कल्पतरु के समान है अतएव प्रत्येक माँग की पूर्ति अवश्य होती है, परन्तु माँग सच्ची होनी चाहिए।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

४३

प्रिय आत्मस्वरूप,　　बस्ती

२५–७–१९३८

सत्य को केवल असत्य के त्याग से अनुभव कर सकते हैं। अब विचार यह करना है कि त्याग का स्वरूप क्या है ? वास्तव में प्रत्येक वस्तु का अर्थ मनुष्य की अपनी योग्यता के अनुरूप होता है, जैसे कुछ लोग बुरे कर्मों को त्याग कर शुभ कर्मों को ग्रहण करना ही त्याग का स्वरूप समझ लेते हैं। यह अर्थ भी साधारण दृष्टि से उचित है, किन्तु इस अर्थ से त्याग के पूर्ण स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि एक आधार को त्याग कर दूसरा आधार बना लेना–चाहे वह कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, वह वास्तविक त्याग नहीं कहा जा सकता। और यह अखण्ड नियम है कि त्याग के बिना सत्य का अनुभव कदापि नहीं हो सकता। त्याग सीखने और समझने की वस्तु नहीं है, और न वह

सिखाया जा सकता है, बल्कि सत्य की अभिलाषा स्थायी होने पर त्याग स्वयं उत्पन्न हो जाता है।

स्थायी अभिलाषा एक होती है, अनेक नहीं। यदि हम चाहें तो त्याग रूपी अमृत का रस हम स्वयं चख सकते हैं, जिसके चखते ही चखने वाला अमर हो जाता है, और सब प्रकार से शोक से पार हो आनन्द में स्थायी निवास करता है। क्या हमने अपने में कभी ऐसे जीवन का अनुभव किया कि जिसमें सभी प्रकार के वाह्य अथवा भीतरी आधार से अपने को ऊपर उठा लिया हो, अर्थात् जब हमारा कोई भी आधार न हो ? ऐसा जीवन सच्चे त्याग से, त्याग सेवा–भाव से, सेवा–भाव आस्तिक बुद्धि से, जो हर काल में अखण्ड एकरस है, उस पर पूरा विश्वास आस्तिक–बुद्धि विचार से, विचार दुःख से, और दुःख अपने जीवन की घटनाओं के स्मरण तथा विचार करने से स्वयं उत्पन्न होता है।

जिस पर जीवन की घटनाओं का प्रभाव नहीं होता, उस पर और किसी का प्रभाव होना कठिन है, क्योंकि जीवन की घटनाएँ तो स्वयं अपने अनुभव की चीज हैं और इसलिए वह गलत नहीं हो सकतीं। परन्तु साधारण मनुष्य अनुभव पर पूर्ण विश्वास न करने के कारण, सच्चाई की खोज के लिए बाहर भटकते फिरते हैं। देखिये, जितना वैराग्य आपको आपका शरीर सिखा सकता है, उतना किसी भी पुस्तक के पढ़ने से तथा वैराग्यवान पुरुष के कथन से नहीं सीखा जा सकता, क्योंकि जो वस्तु अपने में उत्पन्न नहीं होती, उस वस्तु का अनुभव नहीं हो सकता। बाह्य सहायता तो केवल अपने में उपजी हुई बुद्धि का कारण हो सकती है। जिस प्रकार किसी ने पढ़ा कि मोह दुःख का मूल है, परन्तु इसको भली–भाँति वही समझ सकता है कि जिसको मोह से दुःख हुआ हो।

अतएव प्रिय मित्र, अपने अनुभव पर पूरा विश्वास कर उसके अनुरूप जैसा विश्वास हो, जीवन का स्वरूप बनाओ, अर्थात् जैसा ज्ञान हो वैसा ही आचरण हो। ऐसा करने से, कभी–न–कभी सच्चाई का अनुभव अवश्य होगा।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

४४

प्रिय आत्मस्वरूप, बस्ती

जुलाई १९३८

वर्तमान में आनन्द अनुभव करने का प्रयत्न करो, अर्थात् आनन्दघन भगवान् को अपने में देखो। जो अपने से भिन्न प्रतीत हो, उसका त्याग करो। ऐसा करने पर शान्ति अवश्य प्राप्त होगी—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

वर्तमान के सँभल जाने से बिगड़ा हुआ भूत तथा आने वाला भविष्य स्वयं सँभल जाता है। जो अपने को वर्तमान में नहीं सँभाल सकता, वह अपने को भविष्य में कभी नहीं सँभाल सकता। शुद्ध—हृदय त्याग से, त्याग सेवा से, सेवा अपने पर शासन करने से हो सकती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

आपका अभेदस्वरूप

४५

प्रिय आत्मस्वरूप, बस्ती

जुलाई १९३८

किसी वस्तु से राग तथा द्वेष करना भूल है, क्योंकि राग और द्वेष ही वास्तव में सच्चाई से विमुख करते हैं। देखिये, जिस वस्तु से राग हो जाता है, उसके दोष (बुराई) भी अच्छाई तथा गुण मालूम होते हैं और जिस वस्तु से द्वेष हो जाता है, उसका गुण (अच्छाई) भी दोष तथा बुराई मालूम होते हैं। इसलिए राग तथा द्वेष जब तक बाकी हैं, तब तक किसी वस्तु का यथार्थ समझना तथा जान पाना कठिन है।

—मालूम यह होता है कि सारी वस्तुओं का मूल कारण तो एक ही है जिस प्रकार दर्पण तथा मिट्टी का जिस वस्तु से गलत ज्ञान निकल जाता है, उसमें गुण उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार साफ होने पर मिट्टी से दर्पण उत्पन्न होता है, और न होने पर मिट्टी ही रह जाती है। वास्तव में तो दर्पण मिट्टी ही है। इसी प्रकार गुण और दोष एक ही वस्तु से उत्पन्न होकर अपने आपको प्रकट करते हैं। विद्या से गुण और अविद्या से अवगुण समझना चाहिए, किसी वस्तु से नहीं। क्योंकि राग तथा द्वेष भी अविद्या का ही स्वरूप है, जो अपने को शरीर समझने पर उत्पन्न होता है। राग और द्वेष मिटाने के लिए शरीर—भाव का अत्यन्त अभाव करना होगा। जब तक यह स्वाभाविक न हो जाए

कि मैं शरीर किसी भी काल में नहीं हूँ, तब तक राग और द्वेष कदापि नहीं मिट सकता।

यदि अपने को अच्छा बनाना चाहते हो, तो राग व द्वेष को त्याग प्रत्येक वस्तु से प्रेम करो। प्रेम के उत्पन्न होने पर किसी भी प्रकार की वासना शेष नहीं रहती। जब तक किसी प्रकार की वासना शेष है, तब तक समझना चाहिए कि प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि प्रेम उत्पन्न होने पर हृदय आनन्द तथा समता से भर जाता है और सब ओर अपना आपा ही नजर आता है। प्रेम उत्पन्न करने के लिए अपने आप पर शासन करना चाहिए। जो अपने आप पर शासन कर सकता है, वह सब कुछ कर सकता है। अपने पर शासन करने के लिए गुणहीन वस्तुओं को आदर के भाव से देखो, परन्तु उनसे राग मत करो। क्योंकि राग के होने पर द्वेष का होना स्वाभाविक हो जाता है और हृदय अखण्ड पवित्र प्रेम से विमुख हो जाता है। ऐसा मेरा अनुभव है।

शरीर–भाव से राग और आत्म–भाव से प्रेम उत्पन्न होता है। प्रेम से हृदय निर्भयता तथा अखण्ड प्रसन्नता व सत्यता से भर जाता है, जो जीवन का परम लक्ष्य है। हर समय प्रसन्नतापूर्वक आत्मचिन्तन करो। आगे–पीछे का व्यर्थ चिन्तन करना परम भूल है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

४६

प्रिय आत्मस्वरूप, बस्ती

जुलाई १९३८

ज्ञान अखण्ड, एकरस, नित्य है और क्रिया परिवर्तनशील, अर्थात् बदलती रहती है। ज्ञान निज आनन्द के लिए है और क्रिया संसार के लिए होती है। संसार स्वभाव से परिवर्तनशील है। इसलिए क्रिया का बदलना अनिवार्य है। शरीर और संसार स्वरूप से एक हैं, उनमें सिर्फ माना हुआ भेद प्रतीत होता है।

प्रिय मित्र ! शरीर के विशेष रोगी होने पर दो प्रश्न उत्पन्न हुए १. शरीर को किस प्रकार रखना ?, २. और अपनी ओर से संसार को क्या कहना है ? इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिए भागीरथी तट पर एकान्त वास किया और सर्वान्तर्यामी की ओर से जो उत्तर

मिला वह लिखा जाता है, अन्यथा अपनी ओर से क्या होना है ?

१ आत्म–विश्वास तथा आस्तिक–भाव आनन्द का मूल है।

२ देह–भाव के त्याग से आत्म–विश्वास उत्पन्न होता है।

३ "मैं क्या हूँ", इसका यथार्थ निर्णय करने से देह भाव का त्याग होता है।

४ वर्तमान जीवन पर असन्तोष होने से 'मैं क्या हूँ', यह निर्णय करने का भाव उत्पन्न होता है।

५ दुःख के ठहर जाने पर वर्तमान जीवन से असन्तोष होता है।

६ विषयों के सुख का त्याग होने पर दुःख ठहर जाता है। वास्तव में दुःख प्राणि–मात्र के अनुभव की चीज है, परन्तु विषयों का राग अंकित होने से दुख दब जाया करता है और समय–समय पर बार–बार आता जाता है।

७ जीवन की घटनाओं का यथार्थ पाठ पढ़ने से विषयों का सुख मिट जाता है, जो उन्नति का सर्वोत्तम साधन है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

४७

प्रिय आत्मस्वरूप,

फर्रुखाबाद
१२–८–१९३८

जब तक अविचार के कारण किसी प्रकार का राग अंकित है, तब तक संसार का स्वरूप सत्य मालूम होता है। ऐसी दशा में मन विषयों का स्मरण–चिन्तन तथा ध्यान करता है। विचार उत्पन्न होने पर संसार का स्वरूप अनित्य मालूम होता है। ऐसी दशा में मन भगवत्–स्मरण–चिन्तन तथा ध्यान करता है। भगवत्–स्वरूप का साक्षात्कार, अर्थात् यथार्थ ज्ञान होने पर, संसार का स्वरूप मिथ्या मालूम होता है। ऐसी दशा में स्थायी भाव से अखण्ड सच्चिदानन्दघन भगवान् का अपने में अनुभव होता है। साधारण मनुष्य जिस प्रकार सोते समय अपने को सब ओर से हटा कर सुखपूर्वक सो जाता है और यह नहीं समझ पाता कि किस काल में सो गया, उसी प्रकार विचारशील अपने को सब ओर से हटा कर आत्मलीन होकर अखण्ड सच्चिदानन्द भगवान् का अनुभव करता है और यह नहीं समझ पाता कि शरीर–भाव

कब मिट गया।

१ शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल सुख तथा दुःख के रूप में सामने भले ही नाचता रहे, किन्तु आपको असंगता–पूर्वक साक्षी भाव से देखते हुए निजानन्द में मग्न रहना चाहिए।

२ शरीर चाहे जिस दशा में क्यों न रहे, संसार भले ही कुछ क्यों न कहे, किन्तु आपको सद्भाव–पूर्वक, लगातार अपने से अपने में अखण्ड सच्चिदानन्दघन भगवान् का अनुभव करना चाहिए।

३ संसार भले ही आपको अपना अंग न समझे, अर्थात् अपने से भिन्न कल्पना करता रहे, किन्तु आपको अभेद भाव से हर्षपूर्वक यथाशक्ति सेवा करते रहना चाहिए।

पहला उसूल ज्ञान–निष्टा का है, दूसरा भक्ति–निष्ठा का है और तीसरा कर्मनिष्ठा का है। एक समय में एक ही उसूल को जीवन का स्वरूप बनाया जा सकता है। कर्म से प्रारम्भ होकर, ज्ञान पर अन्त होता है। किस उसूल को जीवन का अंग बनाया जाय, इसे अधिकारी स्वयं अपनी योग्यता के अनुसार निर्णय कर सकता है। जिस समय पहला उसूल जीवन का अंग बन जायगा, उस समय स्थायी भाव से शान्ति प्राप्त होगी। और सब कुछ करते हुए जीवन–मुक्ति का आनन्द आयेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

४८

प्रिय आत्मस्वरूप, फतेहगढ़

अगस्त १९३७

अपने को शरीर समझने पर ही मोह की उत्पत्ति होती है, जो दुःख का मूल है। प्रेम आत्मा का स्वरूप है। प्रेम और मोह प्रकाश और अन्धकार के समान हैं। प्रकाश से अन्धकार का अन्त होता है, प्रेम से मोह का । नाश उस वस्तु का होता है जो स्वरूप से नहीं होती। इसलिए अन्धकार तथा मोह स्वरूप से कोई वस्तु नहीं, केवल प्रतीति मात्र हैं। प्रकाश की कमी से अन्धकार और पवित्र प्रेम को शरीर में कैद करने से मोह की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार गंगा का पवित्र जल भी जो आनन्द का हेतु है, गड्ढे में बँध जाने पर विषैले कीड़ों को

उत्पन्न कर दुःख का कारण हो जाता है। इसी प्रकार पवित्र प्रेम मल–मूत्र पूर्ण शरीर में वासनारूपी कीड़े पैदा कर अनेक दुःख का कारण बन जाता है। मोह से स्वार्थपरायणता तथा विषयासक्ति स्वाभाविक होती है। प्रेम से स्वार्थ–भाव के त्यागपूर्वक, मन राग–रहित होकर, आत्मानुराग में विलीन हो पूर्णता को प्राप्त होता है। फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती–ऐसा मेरा विश्वास है।

हे अभिन्न हृदय ! पवित्र प्रेम को शरीर रूपी गढ्ढे में फँसने न दो। यही उत्तम पाठ है जिसे पूरे मनोयोग के साथ पढ़ना चाहिए।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

४९

प्रिय आत्मस्वरूप,

फर्रुखाबाद
अगस्त १९३७

योग से शक्तियों का विकास, भोग से शक्तियों का विनाश और त्याग से शान्ति की प्राप्ति होती है। संसार को सद्भाव पूर्वक देखने से, अर्थात् सत्य समझने से भोग, विषयों को दुःखरूप समझने से योग और संसार के स्वरूप का विचार पूर्वक यथार्थ ज्ञान होने पर त्याग का होना स्वाभाविक है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

५०

प्रिय आत्मस्वरूप,

.....
११–९–१९३८

जो कुछ नहीं चाहता उसे सब कुछ प्राप्त होता है। जो कुछ चाहता है, उसे कुछ नहीं हाथ आता। कुछ न करने से सब कुछ होता है, कुछ करने से कुछ नहीं होता। जब कुछ नहीं जानता तब सब कुछ जानता है। जब कुछ जानता है तब कुछ नहीं जानता–ऐसा मेरा अनुभव है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

५१

प्रिय आत्मस्वरूप, फतेहगढ़

७—१०—१९३८

निजस्वरूप रूपी जल में चाह रूपी वायु के चलने से समुद्र–रूप ईश्वर और लहर–रूप जीवन तथा क्रिया–रूप संसार मालूम होता है। यद्यपि जल से भिन्न कुछ नहीं है, परन्तु इसका अनुभव चाह के मिटने से ही होता है। जरूरी इच्छाओं को सेवा–भाव से पूरा करो और बिना जरूरी इच्छाओं का त्याग करो। सेवा–भाव से किया हुआ कार्य भगवत्प्रेम में बदल जाता है, क्योंकि भक्त की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती। की हुई इच्छाओं की पूर्ति के लिए भगवान् संसार के स्वरूप में मालूम होते हैं। जिसने सब प्रकार की इच्छाओं को मिटा कर आनन्दघन, अचिन्त्य निजस्वरूप का अनुभव किया, वह पूजने योग्य हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

५२

प्रिय आत्मस्वरूप, फतेहगढ़

२५—१०—१९३८

सुखी जीवन से संसार को सुख और दुःखी जीवन से संसार को दुःख अपने आप होता है। अच्छाई का अभिमान बुराई का मूल है। अभिमान–रहित अच्छाई पूजन करने योग्य है। विषयों का पुजारी शान्ति नहीं पाता । किसी का निरादर न करने वाले आदर और त्याग करने वाले को आनन्द अवश्य मिलता है।

साधारण मनुष्य जीने की बड़ी इच्छा तो रखते हैं, किन्तु जीवन का सदुपयोग करने का कुछ भी ध्यान नहीं रखते और इसलिए दुःखी होते हैं। विचारशील मनुष्य जीने की इच्छा से अधिक जीवन का सदुपयोग करने का प्रयत्न करते हैं।

गलत ज्ञान से इच्छाओं की उत्पत्ति होती है, जो दुःख का मूल है। कर्म से इच्छाओं की पूर्ति होती है जो सुख का मूल है। यथार्थ ज्ञान से इच्छाओं की निवृत्ति होती है, जो आनन्द का मूल है। सुख से दुःख दब जाता है। आनन्द से दुःख मिट जाता है।

अविचार रूपी भूमि में राग–द्वेष रूप वृक्ष अपने आप उपजता है। वृक्ष के हरे–भरे होने पर गलत ज्ञान रूपी फल अपने आप आ जाता है, जो दुःख का हेतु है।

विचार रूपी भूमि में त्याग तथा प्रेमरूप वृक्ष अपने आप उपजता है और वृक्ष के हरे–भरे होने पर यथार्थ ज्ञान रूपी फल अपने आप आ जाता है, जो आनन्द का हेतु है।

संसार को न समझने से अविचार और संसार को भली प्रकार समझने से विचार उत्पन्न होता है। प्रिय मित्र ! संसार को भली प्रकार समझने के लिए शरीर को भली प्रकार समझ लो, क्योंकि शरीर संसार का ही अंग है। जो शरीर को भली प्रकार नहीं समझ सकता वह संसार को कदापि नहीं समझ सकता। जो मालूम होता है (संसार) उसका त्याग ही, जो नहीं मालूम होता– (परमात्मा) उसका प्रेम बन जाता है। क्योंकि किसी का त्याग ही किसी का प्रेम बनता है–ऐसा नियम है। त्याग और प्रेम बीज और वृक्ष के समान हैं। प्रेमरूप मनोहर सुन्दर वृक्ष को सत्संग–रूप जल से सींचते रहना चाहिए। जो प्रेमी अपने प्रियतम के वियोग के दुःख से दुःखी है, उसको और किसी के दुःख से दुःखी होने की फुरसत नहीं मिलती। जो प्रेमी अपने प्रियतम को पा चुका है, उसको और किसी वस्तु के पाने की अभिलाषा नहीं रहती। बढ़ा हुआ रोग आरोग्यी में और बढा हुआ प्रेम प्रेमपात्र में विलीन हो जाता है। सच्चा प्रेमी स्थायी भाव से प्रियतम को अपने में और अपने को प्रियतम में अनुभव करता है, क्योंकि प्रेमी की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती–ऐसा मेरा अनुभव है।.....

जीवन का सदुपयोग करने पर जीने की इच्छा नहीं रहती, ऐसा मेरा अनुभव है।

यदि हो सके तो इस पत्र को लगातार कुछ दिन विचार–पूर्वक पढ़ना चाहिए, केवल एक बार पढ़ कर ही मत रख दीजियेगा।.....

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

५३

प्रिय आत्मस्वरूप, बरेली

१—१२—१९३८

सद्भावपूर्वक की हुई अभिलाषा अवश्य पूर्ण होती है। जिस अभिलाषा को हम किसी प्रकार त्याग नहीं सकते, वही अभिलाषा सद्भावपूर्वक की जा सकती है। यथाशक्ति पूरा प्रयत्न करने पर यदि अभिलाषा पूर्ण न हो, तब सद्भावपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिए। यह भली प्रकार समझ लो कि जिससे हम प्रार्थना करते हैं वह कल्पतरु के समान सर्वथा पूर्ण है। इसलिए अपनी की हुई प्रार्थना पर अखण्ड विश्वास करना अनिवार्य है।

सब प्रकार का अभिमान गल जाने पर ही सद्भावपूर्वक प्रार्थना होती है। प्रार्थना सर्वदा क्रिया के अनुसार और क्रिया प्रार्थना के अनुसार करनी चाहिए। जब क्रिया—शक्ति समाप्त हो जाती है और अभिलाषा पूरी नहीं होती, तब अभिलाषा—पूर्ति के लिए हृदय में जो भाव उत्पन्न होते हैं वही सच्ची प्रार्थना है। किन्तु यह हमेशा ध्यान में रहे कि जब तक अभिलाषा पूर्ण न हो जाय, तब तक किसी प्रकार सन्तोष नहीं करना चाहिए, अर्थात् बेकली तथा बेचैनी बढ़ती रहनी चाहिए। बेकली जब असह्य हो जाती है, बस उसी समय उस बेकली का अन्त हो जाता है—ऐसा अखण्ड नियम है। देखो, जिसमें अभिलाषा उत्पन्न होती है वह स्वयं अभिलाषा का स्वरूप धारण कर लेता है। और सब प्रकार की अभिलाषाओं का अन्त होने पर वह सत्ता मिट जाती है जिसमें अभिलाषाएँ उत्पन्न होती हैं। उस सत्ता के मिट जाने पर जो अनन्त तथा पूर्ण है, वही शेष रह जाता है, क्योंकि जो पूर्ण है उसका किसी काल में अभाव नहीं होता। अभिलाषा अपूर्ण में ही उत्पन्न होती है, अर्थात् जब तक मिट कर पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक किसी—न—किसी प्रकार की अभिलाषा बनी ही रहती है, क्योंकि पूर्ण होने पर ही अभिलाषाओं का अन्त हो सकता है।

अपूर्णता अभिलाषाओं के आधार पर ही जीवित है। अतएव अभिलाषाओं के मिट जाने पर अपूर्णता मिट जाती है। यदि अपूर्णता स्वरूप से सत्य होती तो मिट नहीं सकती थी, किन्तु मिट जाती है, इसलिए, मालूम होता है कि वह अपूर्णता स्वरूप से सत्य नहीं है, ऐसा मेरा विचार व अनुभव है।

आवश्यक कामनाओं को सेवा–भाव से पूर्ण करो, बिना जरूरी कामों का त्याग करो। ऐसा करने से काम का अन्त हो जायगा और सब प्रकार के कामों का अन्त होने पर राम अवश्य मिल जायेगा, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। जीवन–काल में ही जीवन के सब कामों का अन्त कर देना परम आवश्यक है। ऐसा होने पर जीवन तथा मृत्यु में भेद नहीं रहता।

• सत्य की आवाज को किसी व्यक्ति की आवाज, सत्य के ज्ञान को किसी व्यक्ति का ज्ञान, सत्य के प्रेम को किसी व्यक्ति का प्रेम और सत्य के आनन्द को किसी व्यक्ति का आनन्द और सत्य के सौन्दर्य को किसी व्यक्ति का सौन्दर्य समझना परम भूल है। इस भूल के होने से ही व्यक्तियों से राग हो जाता है, जो दुःख का मूल है। राग से दुःख तथा त्याग से आनन्द अवश्य मिलता है।

सब प्रकार से उनका हो जाने पर शरीर आदि से असंगता अवश्य हो जाती है। असंगता दृढ़ होने पर स्थायी शुद्ध प्रेम हो जाता है, जो आनन्द का मूल है। शुद्ध प्रेम होने पर प्रीतम से अभेदता अवश्य हो जाती है। प्रिय मित्र ! आपको अपने सत्य पर पूरा विश्वास करना चाहिए और उसकी रक्षा के लिए बडी से बडी कठिनाई हर्षपूर्वक सहन करना चाहिए। सत्य स्वरूप भगवान् सब प्रकार से सिखाते हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

५४

प्रिय आत्मस्वरूप,

लखनऊ
९–१२–१९३८

जब शरीर तथा संसार की ओर से कोई किसी प्रकार का सुख न मालूम हो, तब भगवान् की असीम कृपा समझनी चाहिए, क्योंकि दुःख रूप अग्नि में संसार की सत्ता, सुन्दरता और सुखरूपता जल कर भस्म हो जाती है, सब कुछ जल जाने पर अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है अर्थात् दुःख स्वयं दुःखी होकर नष्ट हो जाता है और फिर सब ओर आनन्द ही आनन्द नजर आता है।

प्रिय मित्र ! किसी की भूल देखने के लिए भी देखने वाले को स्वयं को भूलना पड़ता है, क्योंकि जब तक वह अपने में शरीर–भाव

नहीं धारण करता, तब तक संसार नहीं दिखाई देता, ऐसा मेरा अनुभव है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

५५

प्रिय आत्मस्वरूप, मिर्जापुर

२०—१२—१९३८

सद्भावपूर्वक की हुई इच्छाओं की पूर्ति के लिए आनन्दघन भगवान् संसार के रूप में प्रतीत होते हैं। यदि हम सब प्रकार की इच्छाओं का त्याग कर शरीर–भाव को समर्पण कर दें तो फिर शुद्ध बोधस्वरूप सच्चिदानन्दघन भगवान् का अनुभव होता है। इच्छाओं की उत्पत्ति का मूल कारण शरीर–भाव ही है, जो केवल आत्म–भाव से ही मिट सकता है। जिसने की हुई कल्पनाओं का जीवन में ही अन्त कर कल्पनाओं से परे निज स्वरूप का अनुभव किया, वह पूजन करने योग्य है। शरीर–भाव मिटाने के लिए जरूरी इच्छाओं को सेवा–भाव से पूरा करना और बिना जरूरी इच्छाओं का त्याग करना परमावश्यक है। सब प्रकार से उनका हो जाने पर सेवा–भाव अपने आप उत्पन्न होगा, जो उन्नति का मूल है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

५६

भगवन्, मिर्जापुर

२२—१२—१९३८

यह काफी ध्यान रखना चाहिए कि की हुई क्रियाओं का प्रभाव मन पर क्यों अंकित होता है ? जब तक क्रियाओं का प्रभाव अंकित होता है तब तक मन अमन अर्थात् अविषय नहीं हो सकता। जब तक मन अविषय नहीं होता जब तब शान्ति कहाँ ? शान्ति के बिना स्थायी आनन्द कदापि नहीं मिल सकता। ऐसा मेरा अनुभव है।

सारी क्रियाओं का एक अर्थ होने पर क्रियाओं का राग अंकित होता ही नहीं।

राग के बिना द्वेष हो ही नहीं सकता। क्योंकि किसी का राग ही किसी का द्वेष बनता है। राग–द्वेष रहित होने पर हृदय में शुद्ध प्रेम उत्पन्न होता है। यह भली प्रकार समझ लो कि वास्तव में वही प्रेम, प्रेम है जो किसी के आधार पर जीवित नहीं है। सच्चे प्रेमी को आधार की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि अग्नि को अग्नि क्या जलायेगी। वास्तव में तो प्रेमी और प्रेम दो वस्तु किसी काल में नहीं होते। जैसा अपने को देखना चाहते हो उसको सद्भावपूर्वक मन में रख कर क्रिया करो। ऐसा करने से प्रत्येक क्रिया साधन का रूप बन जायगी। और ऐसा करने से ही प्रत्येक क्रिया का एक अर्थ होगा।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

५७

मेरे निजस्वरूप,

लखनऊ

२३–१२–१९३८

साधारण मनुष्य भूल से किसी–न–किसी को आधार बना लेते हैं। इसी से बार–बार सुखी–दुःखी होते हैं। और विचारशील सब प्रकार के आधार को त्याग, जीवन में मृत्यु का अनुभव कर, अभय हो जाते हैं, और परम शान्ति पाते हैं। जो जीवन में मृत्यु का अनुभव नहीं कर सकते, वे परमात्मा का ध्यान कदापि नहीं कर सकते। क्योंकि जब तक शरीर आदि से असंग नहीं हो जाते, तब तक मन अविषय नहीं होता। और जब तक मन अविषय नहीं होता तब तक ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान के बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। और जब तक मन शुद्ध नहीं होता, तब तक आत्म–अनुभव नहीं हो सकता।

सद्भावपूर्वक की हुई इच्छाओं की पूर्ति के लिए, आनन्दघन भगवान् संसार के रूप से प्रकट होते हैं। जिसने सब प्रकार की इच्छाओं को त्याग, स्वयं शुद्ध भगवत्स्वरूप का अनुभव किया, वह पूजन करने योग्य है। जरूरी इच्छाओं को सेवाभाव से पूरा करो और बिना जरूरी इच्छाओं का त्याग करो। जो काम सेवाभाव से किया जाता है, उस काम का फल कुछ नहीं बनता, बल्कि काम समाप्त होते ही हृदय में एक अजीब प्रेम–धारा उत्पन्न होती है और जब तक वह प्रियतम में विलीन नहीं हो जाती, बहती रहती है–अर्थात् किसी प्रकार चैन नहीं पड़ता।

काम और सेवा में यही वड़ा भेद है कि काम तो फल में बाँध देता है, और सेवा स्वामी से मिला देती है। वास्तव में तो सेवा–भाव वाली क्रिया, स्वामी की पूजा होती है, क्योंकि सच्चे भक्त की दृष्टि में दुनियाँ नहीं रहती। अपने घर को, तन को, मन को भगवान् का वृन्दावन बना लो और इन्द्रिय–रूपी सखियों से, उनकी प्रेममयी लीला का रसास्वादन करो। अपने सत्य पर पूरा विश्वास करो, आप स्वयं अपने दुःखों का अन्त कर सकते हो। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। दुःख बेचारा उसी समय तक रहता है जब तक आप रखना चाहते हो। सुख और दुःख आपके बनाए हुए खिलौने हैं। यदि आप चाहो तो तोड़ सकते हो। दुःख मिटाने के पहले सुख का त्याग करो, फिर बेचारा दुःख स्वयं दुःखी होकर भाग जायगा। विचारपूर्वक त्याग करने से सब प्रकार का दुःख मिट सकता है। ऐसा मेरा अनुभव है। त्याग उन्नति के लिए महामन्त्र है। शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना न समझना त्याग का सच्चा स्वरूप है।

अपने को देकर उनको ले लो, नहीं तो काल–चक्र खा जायगा। यह भलीभाँति समझ लो कि जो देता है, वही पाता है। जिसने जीवन की कल्पनाओं का जीवन में ही अन्त कर दिया है, वही धन्य है। कल्पनाओं से परे आपका निज–स्वरूप है। इसलिए अपने को सर्वदा सर्वकाल में कल्पनाओं से परे अनुभव करो।

जो शरीर आदि पर विश्वास नहीं करता, वही सच्चा आस्तिक है। क्योंकि जो हर काल में नहीं है (संसार) उस पर विश्वास करने वाला नास्तिक है। किसी–न–किसी पर हर एक मनुष्य विश्वास करता है, परन्तु विचारशील, जो हर काल में है, उसी पर विश्वास करता है। अब विचार करो कि हर काल में क्या है? आपका शरीर, जैसा दस वर्ष पहले था वैसा अब नहीं है। तो इससे मालूम होता है कि शरीर हर काल में एकसा नहीं रहता। यह आप भली प्रकार जानते हैं कि आपके विचार अब पहले जैसे नहीं हैं, लेकिन शरीर और विचारों का जानने वाला कभी नहीं बदला। अब यह जानना है कि जानने वाला कौन है? शरीर और विचारों से अपने को ऊपर उठाओ। तब आप स्वयं जानने वाले को जानोगे। उसको जानने के लिए किसी और की सहायता मत ढूँढो, वह अत्यन्त समीप है। उसको जानते ही आप स्वयं वही हो जाओगे। परन्तु जब तक ऐसा अनुभव न कर लो, तब तक सुन कर

सन्तोष मत करो।

देखो, जो दुनियाँ इस समय आपको मालूम होती है वह स्वप्न में नहीं मालूम होती। और स्वप्न की दुनियाँ जागने पर नहीं मालूम होती। स्वप्न के सुख–दुःख जागने पर झूठे हो जाते हैं। जब गहरी नींद आती है–यानी सुषुप्ति में, दोनों दुनिया में से कोई नहीं मालूम होती। अब विचार करो कि इन तीनों दशाओं को जानने वाला कौन है ? यदि तीन होते, तो एक दूसरी अवस्था की याद न रहती। लेकिन जानने वाले को तीनों दशाओं की याद है। जिसने तीनों दशाओं का अनुभव किया है, वह तीनों अवस्थाओं से परे है। इसलिए अपने को, तीनों अवस्थाओं से परे उस जानने वाले को समर्पण कर दो, अर्थात् उससे अभेद हो जाओ। ऐसा करने से अवस्थाओं का भेद मिट जायगा और आपको अखण्ड रस का अनुभव होगा। जो जीवन का परम लक्ष्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

५८

प्रिय आत्मस्वरूप,

मिर्ज़ापुर
दिसम्बर, १९३८

जीवन से अधिक जीवन के सदुपयोग करने का ध्यान रखना चाहिए। साधारण मनुष्य जीने की तो बड़ी इच्छा करते हैं, किन्तु जीवन का दुरुपयोग करने से नहीं डरते, इसीलिए दुःख पाते हैं। विचारशील जीने से अधिक जीवन के सदुपयोग करने की इच्छा करते हैं।

सुखी जीवन से संसार को सुख और दुःखी जीवन से संसार को दुःख अपने आप होता है। अच्छाई का अभिमान बुराई का मूल है। अभिमान–रहित अच्छाई पूजन करने योग्य है। विषयों का पुजारी शान्ति नहीं पाता। किसी का निरादर न करने वाले को आदर तथा त्याग करने वाले को आनन्द अवश्य मिलता है। जो प्रेमी अपने प्रीतम के वियोग के दुःख में दुःखी हैं, उसको किसी और दुःख से दुःखी होने की फुर्सत नहीं मिलती। जो प्रेमी अपने प्रीतम को पा चुका है उसे किसी और वस्तु के पाने की अभिलाषा नहीं रहती। जो मालूम होता

है उसका त्याग ही, जो नहीं मालूम होता, उसका प्रेम बन जाता है। गलत ज्ञान से इच्छाओं की उत्पत्ति, कर्म से इच्छाओं की पूर्ति, यथार्थ ज्ञान से इच्छाओं की निवृत्ति होती है। इच्छाओं की उत्पत्ति दुःख का मूल है। इच्छाओं की पूर्ति सुख का मूल है। इच्छाओं का मिट जाना आनन्द का मूल है। अविचाररूपी भूमि में राग–द्वेष–रूपी वृक्ष अपने आप उत्पन्न होता है। वृक्ष के हरे–भरे होने पर गलत ज्ञानरूपी फल अपने आप आ जाता है, जो दुःख का मूल है। इसी प्रकार विचाररूपी भूमि में त्याग तथा प्रेमरूपी वृक्ष अपने आप उपजता है और वृक्ष के हरे–भरे होने पर यथार्थ ज्ञानरूप फल अपने आप आ जाता है, जो आनन्द का मूल है।

जिस हृदय में राग–द्वेष निवास करता है उसमें उसी काल त्याग तथा प्रेम निवास नहीं कर सकता, क्योंकि दिन और रात एक समय में नहीं रहते, यह नियम है। राग और द्वेष बीज और वृक्ष के समान हैं उसी प्रकार त्याग और प्रेम भी। संसार को भली प्रकार न समझने पर अविचार और भली प्रकार समझने पर विचार उत्पन्न होता है। संसार को समझने के लिए शरीर को भली प्रकार समझना चाहिए, क्योंकि शरीर संसार का अंग है। जो शरीर को नहीं समझ सकता, वह संसार को कभी नहीं समझ सकता।

यदि किसी काम को करने की बार–बार इच्छा होती है, तो यही समझना चाहिए कि वह काम हमने अभी उचित रीति से नहीं किया; क्योंकि प्रत्येक काम का आरम्भ काम के अन्त के लिए होता है, बार–बार करने के लिए नहीं होता है। जीवन का सदुपयोग होने पर जीवन के रखने की इच्छा बिल्कुल नहीं रहती।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

५६

प्रिय आत्मस्वरूप,

मिर्जापुर
सन् १९३८

सद्भाव पूर्वक की हुई भावनाओं के अनुसार इच्छाओं की पूर्ति के लिए जीवन मिलता है। जब शरीर इस प्रकार का हो जाता है कि जरूरत की पूर्ति के लिए काम नहीं कर सकता तब उस शरीर को

प्रकृति माता कुछ काल के लिए अपने में विलीन कर लेती है और उन शक्तियों को जो कि कम हो जाती हैं उनको प्रदान कर फिर जीवन स्वरूप में प्रकट कर देती है। अतएव मृत्यु जीवन के लिए होती है और जीवन मृत्यु के लिए, जिस प्रकार निद्रा जगने के लिए और जागना निद्रा के लिए अनिवार्य है। यदि जीवन और मृत्यु के झंझटों से बचना चाहते हो तो सब प्रकार की इच्छाओं का अन्त कर डालो। क्योंकि इच्छाओं की पूर्ति के लिए जीवन मिलता है और जीवन की उत्पत्ति के लिए मृत्यु होती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६०

प्रिय आत्मस्वरूप को सप्रेम समर्पण ! काशी

१—१—३९

किसी प्रकार की लकड़ी क्यों न हो, किन्तु अग्नि का संग करने पर अग्नि हो जाती है। इसी प्रकार सत् का संग करने पर सभी सत् हो जाते हैं। ऐसा मेरा अनुभव है। जो अपने में असत् को (शरीर) धारण करते हैं, उनको सब ओर असत् संसार ही मालूम पड़ता है। जो अपने में सत् स्वरूप परमात्मा की स्थापना करते हैं, उनको सब ओर आनन्दघन भगवान् के सिवाय और कुछ भी मालूम नहीं होता।

लकड़ी अग्नि होकर ही अग्नि को भली प्रकार जान सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। उसी प्रकार हम सत्—स्वरूप होकर ही सत् को जान सकते हैं, अन्य किसी भाँति नहीं। अतएव अपने में स्थायी भाव से सत्य की स्थापना करो ओर फिर अपना सब कुछ उन्हें समर्पण कर दो, अर्थात् शरीर, मन, इन्द्रिय आदि को उनके पूजन की सामग्री बना दो। ऐसा करने पर सब कुछ उनका ही स्वरूप मालूम होगा। अर्थात् असत् संसार मिट जायगा और सब ओर प्रीतम ही प्रीतम नजर आयेगा।

जिस प्रकार मछली जल के बिना जीना पसन्द नहीं करती, उसी प्रकार सच्चा प्रेमी प्रीतम के बिना जीना पसन्द नहीं करता। प्रीतम की याद के आधार पर जिन्दा रहना शोभा नहीं देता, वह प्रेम क्या, जो वियोग को सहन कर सकता है? वह तो केवल धोखा है। यह भली

प्रकार समझ लो कि जो बुराई अच्छाई के रूप में आती है, वह अत्यन्त दुःखदायी होती है। याद के आधार पर जीवित रहना वह बुराई है जो अच्छाई के रूप में मालूम पड़ती है, क्योंकि जिसको याद किया जाय, उसका प्राप्त करना ही परम आवश्यक है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६१

प्रिय आत्मस्वरूप, लखनऊ

१४—१—१९३९

विचारपूर्वक अपनी दृष्टि से अपनी रुचि को देखिये कि वह क्या है ? जो रुचि किसी भी प्रकार न मिटाई जा सके, उसको स्थायी तथा प्रबल बनाइये। प्रबल रुचि से और सब प्रकार की रुचियाँ मिट जाएँगी, केवल एक ही शेष रहेगी। फिर यथाशक्ति उसको पूरा करने का प्रयत्न करो। यदि सफलता न हो तो व्याकुलतापूर्वक मूक प्रार्थना करो अर्थात् मन, इन्द्रियादि भी जिसे न सुन सकें, फिर उस रुचि को अनन्त सत्य के समर्पण कर दो। बस, उसी काल में सफलता अवश्य प्राप्त होगी, क्योंकि सत्य की अभिलाषा ही सत्य प्राप्ति का मार्ग है। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछलियों को खाकर स्वयं मर जाती है, उसी प्रकार सत्य की अभिलाषा, और सभी अभिलाषाओं को मिटा कर अन्त में स्वयं भी शान्त हो जाती है। उसी काल में सत्य का अनुभव हो जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६२

प्रिय आत्मस्वरूप परम पवित्र तपस्वी, लखनऊ

१४—१—१९३९

संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता आनन्द के अभिलाषी को आशा तथा भय के जाल में बाँधकर आनन्द से विमुख कर देती है। यदि आशा और भय को विचारपूर्वक मिटा दिया जाय तो फिर बेचारा संसार निर्जीव तथा नीरस हो जाता है। संसार के सभी रस मिट जाने पर एक अलौकिक रस का अनुभव होता है, जो कहने में नहीं आता।

उस अनोखे रस का अनुभव होते ही किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती अर्थात् सभी अभिलाषाओं का अन्त हो जाता है। और स्थायी प्रसन्नता जीवन का स्वरूप हो जाती है। हृदय से राग–द्वेष मिट जाता है, स्वाभाविक अखण्ड समाधि प्राप्त होती है। शरीर–भाव गलकर ब्रह्मभाव हो जाता है। अपने सिवाय और कोई मालूम नहीं होता। ह्यदय में प्रेम की गंगा लहराती है। हर्ष और शोक सदा के लिए चले जाते हैं। शरीर चाहे जिस दशा में क्यों न रहे, उसका लेशमात्र भी प्रभाव अपने पर नहीं होता।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६३

प्रिय आत्मस्वरूप,

लखनऊ
जनवरी १९३९

जीवन को जिस कल्पना में बाँध दिया हो उसके विपरीत क्रिया करने पर कर्ता का अपमान तथा संसार का अहित होता है। बुराई का चिन्तन बुराई से अधिक बुरा है, क्योंकि चिन्तन के अनुसार कर्ता का स्वरूप बन जाता है।

जो बिना सीखे हो वही सच्चा ज्ञान है, अर्थात् स्वभावतः आ जाय।

जो बिना हेतु के हो वही सच्चा प्रेम है और जो बिना किये हो वही सच्चा त्याग है, क्योंकि सच्चा त्याग करना नहीं पड़ता, हो जाता है। त्याग से प्रेम और प्रेम से ज्ञान अवश्य होता है। त्याग और प्रेम बीज और वृक्ष के समान हैं जो विचार रूपी भूमि में उपजते हैं। वृक्ष हरा–भरा होने पर ज्ञानरूपी फल अपने आप आ जाता है, जिसको पाकर कुछ पाना नहीं रहता, अर्थात् ज्ञान से जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है। प्रेमरूप मनोहर सुन्दर वृक्ष को सत्संगरूपी जल से सींचते रहना चाहिए। चाह से रहित होने पर सत् का संग होगा, क्योंकि असत् के संग से ही बार–बार चाह उत्पन्न होती है। सत् की चाह तो एक बार उत्पन्न होकर पूर्ण हो जाती है। असत् वास्तव में स्वरूप में नहीं है, इसलिए उसकी चाह पूर्ण नहीं होती।

यह भली प्रकार ध्यान रखो कि कोई काम किसी आवेश में

आकर न किया जाय। सच्चे प्रेमी की आवाज प्रेमपात्र के सिवाय और कोई नहीं सुन पाता। प्रेमरूपी धन अधिक से अधिक छिपाना चाहिए, यहाँ तक कि मन और इन्द्रियों को भी पता न चले। प्रेमी किसी की सहायता नहीं चाहता, यदि किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता मालूम होती हो तो समझ लो कि इस अभागे हृदय में सद्भावपूर्वक प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ। प्रेमी प्रीतम को अपने में अथवा अपने को प्रीतम में विलीन कर देता है, वहाँ किसी और के लिए स्थान नहीं रहता ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६४

प्रिय आत्मस्वरूप को सप्रेम समर्पण, लखनऊ

१७—२—१९३९

साधारण मनुष्य शरीरादि वस्तुओं के संग से दुःख मिटाना चाहते हैं, परन्तु ऐसा करने से दुःख किसी प्रकार मिट नहीं सकता, क्योंकि शरीरादि के संग से चाह उत्पन्न होती है, जो दुःख का मूल है। दुःख का कारण मिट जाने पर फिर दुःख उत्पन्न नहीं होता और जो दुःख उत्पन्न हो चुका है वह अपने आप शान्त हो जाता है क्योंकि लकड़ी–रहित अग्नि स्वयं बुझ जाती है। यह समझ लो कि दुःख आपका बनाया खिलौना है। यदि तुम चाहो तो तोड़ सकते हो। ऐसा कोई दुःख नहीं जो मिट नहीं सकता। क्योंकि जो वस्तु स्वरूप से सत्य होती है वह मिट नहीं सकती। दुःख वास्तव में स्वरूप से सत्य नहीं। बल्कि अविचार के कारण मालूम होता है।

देखो, यदि आपको अपने से सबल कोई व्यक्ति न मालूम हो तो आप दुःख का अनुभव नहीं कर सकते । और यदि आपको अपने से निर्बल कोई न मालूम हो तो आप सुखी न होंगे। अतः सिद्ध हुआ कि सुख और दुःख आप अपनी परिस्थिति के अनुसार बना लेते हैं। कोई भी परिस्थिति सत्य नहीं है। अतः सुख–दुःख सत्य नहीं। यदि आपको वह अवस्था प्राप्त हो कि न किसी से सबल न निर्बल, तो आप सुख–दुःख का अनुभव नहीं कर सकते, अर्थात् किसी प्रकार का दुःख नहीं रह सकता।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

६५

प्रिय आत्मस्वरूप, अलीगढ़

सप्रेम सम्पर्ण ! १५—३—१९३९

कई स्थानों से घूमता हुआ कृपा पत्र मिला।

१. जो सत्य के बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते वे सत्य को अवश्य पाते हैं, क्योंकि व्याकुल हृदय की पुकार अवश्य सफल होती है।

२. जो अपने को सब ओर से हटा लेता है उसको सब कुछ अवश्य मिलता है, अर्थात् किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती।

३. सब प्रकार की आशा तथा भय के मिट जाने पर पवित्र प्रेम उत्पन्न होता है।

४. प्रेमरूप सूर्य के उदय होते ही मोहरूप अन्धकार मिट जाता है।

५. प्रेम से इच्छाओं की निवृत्ति और मोह से इच्छाओं की उत्पत्ति होती है।

६. प्रेम से यथार्थ ज्ञान और मोह से गलत ज्ञान उत्पन्न होता है।

७. प्रेम अपने से, मोह शरीर से होता है।

८. प्रेम एक से, मोह अनेक से होता है।

९. प्रेमी को अनेक में एक ही मालूम होता है।

१०. प्रेम के उदय होते ही विषय–विकार मिट जाते हैं।

११. जिस प्रकार नदी मिट कर समुद्र का अनुभव करती है उसी प्रकार अहंकार मिटने पर ही आत्म–अनुभव होता है।

१२. अरे दुनिया के दुःखियो ! अब देर मत करो। व्याकुल हृदय से आनन्दघन भगवान् को बुलाओ। वह अवश्य आयेंगे, आयेंगे, आयेंगे।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६६

प्रिय आत्मस्वरूप को सप्रेम समर्पण ! कर्णवास

२६—३—३९

कई स्थानों पर घूमता हुआ कृपापत्र मिला।

१. जो अपने दोषों और दूसरों के गुणों पर दृष्टि रखता है वह उन्नति अवश्य करता है।

२. जो गुण और दोष दोनों से ऊपर उठ चुका है, वह पूजन करने योग्य है।

३. अपनी दृष्टि में अपने को जो आदर के योग्य नहीं पाता वह महान दुःखी है।

४. संसार दोषयुक्त जीवन को निरादर के भाव से और गुणयुक्त जीवन को आदर के भाव से अवश्य देखता है।

५. जब तक अपने से भिन्न और किसी की आशा करता है, तब तक सुख–दुःख से बच नहीं सकता, ऐसा मेरा अनुभव है।

पत्र पढ़कर प्रसन्न होना बड़ी भूल है, क्योंकि यदि पत्र पढ़ने की चाह न होती तो प्रसन्नता किसी प्रकार नहीं हो सकती थी। चाह का होना दुःख का मूल है। यदि आप अखण्ड प्रसन्नता चाहते हों तो सब प्रकार की चाह को विचाररूपी अग्नि में भस्म कर दें।

स्वप्न का अधिक होना कई कारणों से होता है–

१. गहरी नींद का न आना।

२. जन्म–जन्मान्तर के संस्कार।

३. जाग्रत अवस्था के व्यवहार में सद्भाव, अर्थात् उसे सत्य समझना।

४. अविद्या आदि।

यह नियम है कि अधिक दुःख–सुख होने पर अवस्था भंग हो जाती है, इसलिये जो अपने को सब अवस्थाओं से ऊपर नहीं उठा लेता, वह स्थायी शान्ति नहीं पाता। अतएव अपने को सब अवस्थाओं से ऊपर उठाओ। देखो, अवस्थाओं का जानने वाला अवस्थाओं से वास्तव में भिन्न होता है क्योंकि जानने वाला यदि अवस्थाओं से अलग न होता तो उसे अवस्थाओं का ज्ञान किसी प्रकार से नहीं हो सकता

था, परन्तु जब भूल से अपने को अवस्था से मिला देता है, तब सुखी–दुःखी होता है।

जब तक अपने को अवस्थाओं से भिन्न अनुभव न कर लो, तब तक चैन से मत रहो। अब देर मत करो, व्याकुल हृदय से आनन्दघन भगवान् को बुलाओ, वे अवश्य आयेंगे।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६७

मेरे निज स्वरूप, बरेली

६–५–१९३९

'मैं उनका हूँ, और वह मेरे हैं'–इस भाव के दृढ़ होने पर उनकी याद अपने आप आती है, और उनके बिना किसी प्रकार कल नहीं पड़ती। यह भक्त की प्रथम अवस्था है। वह मेरे हैं, इस भाव के दृढ़ होने पर उनका ध्यान अपने आप होता है और ध्यान आते ही असह्य दुःख होता है। यह भक्त की दूसरी अवस्था है। उनके सिवाय किसी काल में और कुछ है ही नहीं (अर्थात् में कुछ नहीं हूँ) यह अनुभव होने पर स्थायी अखण्ड प्रसन्नता होती है और फिर किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता। यह भक्त की अन्तिम अवस्था है।

पूजन, पूज्य, पुजारी, तीनों के मिट जाने पर उनके एक हो जाने पर आनन्द का अनुभव होता है। मन, इन्द्रिय आदि जिन साधनों से प्रियतम की आराधना की जाती है वही पूजन है। कर्तापन का भाव ही पुजारी है।

प्रेमी का स्नान क्या है ?– रोना । प्रेमी का ध्यान क्या है ?– अपने आप को मिटा देना। प्रेमी की पूजा क्या है ? सच्ची व्याकुलता। प्रेमी का भोजन क्या है? हर्ष और शोक। प्रेमी निवास कहाँ करता है? जहाँ और कोई न हो। प्रेमी का पाठ क्या है ? मौन।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६८

प्रिय आत्मस्वरूप ! बरेली

१०—५—१९३९

भूतकाल को भूल कर, भविष्य की आशा को छोड़कर और वर्तमान की आवश्यक नियमानुसार क्रियाओं से असंग हो जाने पर आत्मानुभव अवश्य होगा। देखो, भूतकाल के भूल जाने से जीवन में की हुई क्रियाओं का प्रभाव मिट जाएगा और भविष्य की आशा न करने से सच्ची व्याकुलता उत्पन्न होगी। यह भली प्रकार समझ लो कि व्याकुलता ही प्रेम—पात्र से मिला सकती है। भविष्य की आशा सच्ची व्याकुलता नहीं उत्पन्न होने देती। भविष्य की आशा तो तब करनी चाहिए कि जब हमारा प्रियतम हमसे देश—काल की दूरी पर हो। जो सर्व देश और सर्व—काल में है, उसके मिलने के लिए भविष्य की आशा करना परम भूल है। जिस प्रकार मछली जल के बिना किसी प्रकार जीवन रखना पसन्द नहीं करती, उसी प्रकार जब हम अपने प्रेम—पात्र के बिना किसी प्रकार जीवन पसन्द नहीं करेंगे, तब हमारा प्रेम—पात्र हमको अवश्य मिल जायगा, ऐसा मेरा अनुभव है।

सच्ची व्याकुलता उत्पन्न होने पर किसी प्रकार की बाहरी सहायता की आवश्यकता नहीं रहती। जो प्रेमी अपने प्रियतम के वियोग में दुःखी है, उसको संसार के दुःखों से दुःखी होने की फुरसत नहीं मिलती। उसके कान संसार की आवाज सुन नहीं पाते, उसकी आँखें संसार को देख नहीं पातीं, उसका मन संसार का चिन्तन नहीं करता, उसका हृदय संसार से मिल नहीं सकता, ऐसा मेरा अनुभव है।

६९

प्रिय आत्मस्वरूप, ...

२९—१०—१९३९

१. कर्तव्य का यथार्थ ज्ञान होने पर गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं रहती।

२. जो करना चाहिये, उसके करने से करने का अन्त हो जाता है।

३. सब प्रकार की क्रियाओं का अभाव होने पर कर्ता का अन्त हो जाता है।

४. सुख और दुःख बीज और वृक्ष के समान हैं, क्योंकि सुख रूप बीज से ही दुःख रूप वृक्ष हरा–भरा होता है।

५. किसी का न होना, किसी का होना हो जाता है।

६. जिस प्रकार गोल चक्र में घूमने वाला कभी घूमने का अन्त नहीं पाता, उसी तरह बार–बार एक ही प्रकार की क्रिया करने वाला कभी करने का अन्त नहीं कर पाता ।

क्या कभी अपने को 'चैक' (check) किया, और यह जाना आप क्या चाहते हैं ? जो चाहते हैं, उसकी पूर्ति किस प्रकार हो सकती है? क्या इन परम आवश्यक प्रश्नों को हल किये बिना कभी शान्ति मिल सकती है कदापि नहीं। जो आप चाहते हैं, वही आप का प्रेमपात्र है। प्रेमपात्र का यथार्थ ज्ञान होने पर ध्यान अपने आप हो जाता है। ज्ञान से संसार के बन्धन टूट जाते हैं और ध्यान से आनन्द की अनुभूति होती है। वह कौन है, जिसके बिना आप किसी प्रकार नहीं रह सकते? जब तक उसे न जान लो किसी प्रकार चैन से न रहो। यद्यपि उसके बिना जाने किसी को भी चैन नहीं मिलता, फिर भी उसके लिए व्याकुल होना है। क्योंकि दुःख में सुख का भाव हो जाने से जीवन में एक अजीब कँगलापन तथा झूठा सन्तोष आ गया है, जिससे सद्भाव पूर्वक स्थायी व्याकुलता नहीं होने पाती। व्याकुलता के बिना किसी प्रकार भी अपने प्रेमपात्र को नहीं जान सकते। दुःख को दबाओ मत बल्कि मिटा दो, क्योंकि दबा हुआ दुःख बार–बार आ जाता है। यह भली प्रकार समझ लो कि अभागे दुःखी का दुःख उसी समय तक जीवित है, जब तक दुःखी दुःख को संसार की सहायता से मिटाना चाहता है। पवित्र त्याग तथा प्रेम के आ जाने पर दुःख अपने आप मिट जाता है। त्याग अपने करने की चीज है, अर्थात् उसे सभी कर सकते हैं। किसी का त्याग किसी का प्रेम अपने आप हो जाता है। त्याग आ जाने पर शरीर आदि सभी वस्तुओं से असंगता हो जाती है। संसार से असंगता आते ही 'उनका' संग हो जाता है। यदि उनका संग नहीं होता तो समझना चाहिये कि अभी संसार का संग बाकी है। स्मरण, ध्यान के आधार पर कब तक जीवित रहोगे, वह स्मरण निर्जीव है जो उनके संग में नहीं बदलता।

जो जरूरी काम नहीं करते हैं उनको किसी–न–किसी प्रकार

मजबूर होकर करने पड़ते हैं। जरूरी काम से मुँह छिपाना उचित नहीं है। जरूरी काम वही है, जिसके करने से करने का अन्त हो जाए। अपनी प्रत्येक क्रिया को विचार पूर्वक देखो। उसकी खोज करो कि सबसे अन्त में क्या करना है। जो सबसे अन्त में करना है, उसको भविष्य की आशा पर मत छोड़ो अगर भविष्य की आशा पर छोड़ोगे और बार–बार उन्हीं क्रियाओं को करोगे कि जिन्हें कर चुके हो, तो वही दशा होगी जो गोल चक्र में घूमने वाले की होती है।

बनेंगे उनके दीवाने जो हम,
फिरेंगे पीछे हमारे वह भी ।
जो हम करेंगे निसार तन मन,
वह जान हम पर फ़िदा करेंगे ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

७०

प्रिय आत्मस्वरूप, इटावा

१४–१२–३९

१. जो दुःख देता है वह भी सेवा ही करता है।

२. जो करना चाहिये उसका करना कोई विशेषता नहीं है, बल्कि उसका स्वयं ही अर्थात् अपने आप हो जाना विशेषता है।

३. जो नहीं करना चाहिये उसका न करना कोई विशेषता नहीं है, बल्कि उसका किसी प्रकार अपने आप न होना विशेषता है।

४. करना तथा न करना उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक सीमित अहंभाव, अर्थात् महदूदियत रहती है।

५. संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता, अर्थात् शत्रुता तथा मित्रता पर विश्वास करना परम भूल है, क्योंकि बेचारे संसार की, स्वरूप से किसी काल में भी स्थिति नहीं है।

६. शत्रुता और मित्रता का भाव बेचारे को दुःखहारी हरि से मिलने नहीं देता, क्योंकि मित्रों का राग और शत्रुओं का द्वेष मन को अमन नहीं होने देता।

७. शत्रुता और मित्रता का भाव मिट जाने पर अभेदता का भाव

अपने आप उत्पन्न होता है।

८. अभेदता का भाव उत्पन्न होते ही सब प्रकार की अभिलाषाओं का अन्त हो जाता है, क्योंकि अभिलाषा तब उत्पन्न होती है, जब स्वरूप से एकता हो और न जानने से भेद मालूम होता हो, क्योंकि जिससे एकता नहीं होती उसकी अभिलाषा किसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकती, ऐसा अनेक युक्तियों से अनुभव हो चुका है।

९. सब प्रकार की अभिलाषाओं का अन्त हो जाने पर सीमित भाव मिट जाता है। भगवन् ! कृपया सद्भाव स्वीकार कीजिये।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

७१

लखनऊ
३१—१२—१९३९

अनावश्यक काम को न रखने पर आगे पीछे का चिन्तन मिट जाता है और आवश्यक काम पूरा करने के लिए अत्यन्त प्रबल अभिलाषा उत्पन्न होती है। जो जरूरी है उसको भविष्य की आशा पर छोड़ देना परम भूल है। जिसके बिना किसी प्रकार भी रह सकते हैं उसको आवश्यक काम नहीं समझना चाहिये। क्योंकि आवश्यक काम वह है जिसके बिना किसी प्रकार भी नहीं रह सकते। बेचारा मन अनन्तकाल से स्थायी आनन्द की खोज में भटकता है। परन्तु विलासी अहंभाव बेचारे मन को जो करना चाहिए नहीं करने देता, बल्कि मल—मूत्र—पूर्ण दुर्गन्ध से भरे हुए शरीर पर सुगन्धित वस्तुएँ तथा अनेक अलंकार, सुन्दर वस्त्रों से सुशोभित करने के लिए बेचारे मन को मजबूर करता रहता है। यद्यपि मन, बुद्धि, आदि सभी उस अभागे कंगाल, विलासी की आज्ञा का पालन अनन्त काल से करते—करते अनेक बार काफी थक चुके हैं। परन्तु विलासी अपने स्वभाव को नहीं बदलता। इसलिए अब उस विलासी अहंभाव को विचार रूपी गोली से मार देना परमावश्यक है। जिसको शरीर का ज्ञान नहीं होता उसको संसार का ज्ञान नहीं हो सकता और जिसको शरीर का पाठ करना नहीं आता उसको पुस्तकों के पाठ से कुछ लाभ नहीं होता। इसलिए अब अपने शरीर का पाठ करना सीखो। क्योंकि शरीर का भली प्रकार

पाठ करने से विलासिता का अन्त हो जाता है। विलासिता का अन्त होने पर एक अनौखी व्याकुलता उत्पन्न होती है, जो कहने में नहीं आती और फिर जीवन और मृत्यु में कुछ भेद नहीं मालूम होता। उस अवस्था के बिना सत्य का अनुभव किसी प्रकार नहीं हो सकता । जिस प्रकार बिना नींव के मकान किसी तरह नहीं बन सकता उसी प्रकार बिना सत्य के अनुभव के, सेवा करने का भाव पूरा नहीं हो सकता। क्योंकि सेवा वही कर सकता है जिसे अपने लिए कुछ भी करना बाकी नहीं होता। साधारण मनुष्य शुभ कर्म को सेवा समझकर झूठा सन्तोष कर लेते हैं। कर्म में रुचि उसी समय तक रहती है जब तक किसी न किसी प्रकार की विलासिता हृदय में छिपी रहती है। विलासिता का अन्त होने पर त्याग के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता। ऐसा मेरा अनुभव है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

७२

मेरे निज स्वरूप, ...

७—१—१९४०

१— जो किसी को नहीं चाहता उसको सभी चाहते हैं।

२— जो कुछ नहीं करता वह सब कुछ करता है।

३— यदि संसार पर शासन करना चाहते हो तो संसार को अपनी इच्छा–पूर्ति का साधन मत बनाओ। बल्कि यथाशक्ति उसकी पूर्ति का साधन बन जाओ।

४— करने से भोग और कुछ न करने से योग अपने आप हो जाता है।

५— यदि स्थायी आनन्द चाहते हो तो सत्य का अनुभव करो।

६— यदि सत्य का अनुभव करना चाहते हो तो असत्य का त्याग करो। क्योंकि सत्य का अनुभव करने के लिए किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता नहीं है।

७— अपने में शरीर भाव के धारण करने पर आनन्दघन भगवान् संसार के स्वरूप में प्रतीत होते हैं।

त्याग उसी का करना चाहिए कि जो त्याग करने वाले का त्याग करता है। विचार दृष्टि से देखिए कि शरीर आदि सभी वस्तुएँ लगातार जल–प्रवाह के समान अलग हो रही हैं। इसलिए उन सबसे अपने को ऊपर उठा लेना परम आवश्यक है। यदि त्याग न किया तो जब वे त्याग कर देंगे तो उनकी याद आएगी, जो सत्य की याद नहीं करने देगी। याद उन्हीं चीजों की आती है जो अपनी ओर से त्याग कर देती हैं। इसलिए त्याग कर देने वाली चीजों का त्याग कर देना ही परम आवश्यक है। जिस काल में त्याग करने वाली सभी वस्तुओं का त्याग हो जाता है उसी काल में सत्य का अनुभव अपने आप हो जाता है। यदि सत्य का अनुभव आवश्यक हो गया हो तो उसको भविष्य की आशा पर मत छोड़ो। भविष्य की आशा सच्ची व्याकुलता नहीं उत्पन्न होने देती। जो देश काल की दूरी पर नहीं है वह वर्तमान में ही मिल सकता है। सत्य का अभिलाषी उस समय तक सत्य को नहीं पा सकता जब तक कि सत्य के बिना वह किसी प्रकार भी रह सकता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

७३

मेरे निजस्वरूप,

.....

१२–१–१९४०

जीवन की अनेक घटनाओं ने यह भली–भाँति सिखा दिया है कि संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर विश्वास करना परम भूल है। उसी भूल के कारण बेचारा आनन्द का अभिलाषी प्राणी, भय और आशा के जाल में फँस जाता है। यदि विचार रूप अग्नि से संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता को जला दिया जाय तो सारा संसार निर्जीव तथा नीरस हो जाता है। और सभी रस के मिटने पर, एक परम पवित्र विचित्र रस का अनुभव होता है। क्योंकि किसी का न होना किसी का होना हो जाता है। इस अजीब रस का अनुभव होने पर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती। अर्थात् सभी अभिलाषाओं का सदा के लिए अन्त हो जाता है। उस रस को मनुष्य–मात्र प्राप्त कर सकता है। क्योंकि उसको प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता नहीं होती। बल्कि अपने बनाये हुए सभी संगठन

मिटाने पड़ते हैं। अपनी बनाई हुई वस्तुओं को मिटाने के लिए सभी स्वतन्त्र होते हैं। सत्य का कोई रास्ता नहीं है, सिवा इसके कि सत्य की सद्भाव–पूर्वक अभिलाषा उत्पन्न हो जाए। यही केवल एक मार्ग है। विचार दृष्टि से देखिए जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा कर स्वयं अन्त में मर जाती है। उसी प्रकार सत्य की अभिलाषा सभी अभिलाषाओं को खाकर अन्त में अपने आप मिट जाती है। बस उसी काल में सत्य का अनुभव हो जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

७४

मेरे निजस्वरूप,

.....

२१–३–१९४०

यह एक नियम है कि क्रियाओं का अभाव होने पर कर्ता का अभाव हो जाता है। अर्थात् क्रियाओं का समूह कर्ता का स्वरूप है। अतः निन्दा करने से कर्ता को स्वयं निन्दनीय हो जाना पड़ता है। निन्दा वही करता है जिसको अपनी स्तुति की अभिलाषा होती है। अभिलाषा उसी वस्तु की होती है जो अपने में नहीं होती। अर्थात् जो स्तुति के योग्य नहीं होता वही स्तुति की अभिलाषा करता है। दोष रहित प्राणी किसी प्रकार निन्दा कर नहीं सकता। कर्ता की कोई नित्य स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। वह क्रियाओं का स्वरूप होता है। क्रिया, कर्ता और फल देखने में अलग–अलग वस्तु हैं मगर वास्तव में एक ही हैं, क्रियाओं के अभाव में कर्ता का अस्तित्व नहीं। जो वकालत नहीं करता वह वकील नहीं। जब क्रिया ही कर्ता का स्वरुप है तब निन्दक, निन्दनीय होकर निन्दा करता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

७५

मेरे निजस्वरूप,

.....

२२–२–१९४०

लोग दूसरों को दुःख क्यों देते हैं ? जो स्वयं दुःखी नहीं होता, वह बेचारा किसी को दुःख दे नहीं पाता। अर्थात् दुःखी होकर ही

दूसरों को दुःख देता है। यदि यह चाहो कि वह दुःख न दे तो ऐसा प्रयत्न करो कि वह दुःखी न रहे। जब उसका दुःख मिट जाएगा फिर वह किसी को किसी प्रकार का दुःख नहीं दे पाएगा। क्योंकि दी वही वस्तु जाती है जो अपने पास होती है। जब उसके पास दुःख रहा ही नहीं तो दे कहाँ से सकता है। इसलिए विचारशील को चाहिए कि दुःखी का भूलकर भी तिरस्कार न करे। बल्कि उसका दुःख मिटाने का यथाशक्ति प्रयत्न करे। जो दूसरों का दुःख मिटाता है उसका दुःख अपने आप मिट जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

७६

मेरे निजस्वरूप, ...

१७—३—१९४०

शरणागति जीवन में एक बार होती है। जो संसार से आनन्द लेता है वह शरणागति नहीं प्राप्त कर सकता। इसके लिए समय नहीं लगता। व्याकुलता पूर्वक स्मरण करने से किसी का स्मरण किसी का विस्मरण हो जाता है। सत्य का स्मरण, संसार का विस्मरण होने पर ही होता है। शरणागति कर्म नहीं बल्कि जब कर्म कोई सुख नहीं दे पाता तब शरणागति का भाव उदय हो जाता है। शरणागति होने पर स्थायी संग होता है। जो भक्तों की शरणागति है वही तत्त्ववेत्ताओं का ज्ञान है। शरणागति के लिए आस्तिकता की जरूरत होती है। मानी हुई आस्तिकता आस्तिकता नहीं है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

७७

मेरी निजस्वरूपा माँ, ...

२६—३—१९४०

जो अच्छाई तथा गुण मालूम होते हैं वे वास्तव में अपने नहीं होते। क्योंकि जैसे आँख, देखने वाली शक्ति को कभी नहीं देख पाती, वैसे ही जो अच्छाई अपनी हो जाती है वह मालूम नहीं होती। यदि दूसरों की वस्तुओं ने समय पर काम नहीं दिया तो उसका दुःख ही

क्या ? यदि अच्छाई न होने का सच्चा दुःख है तो अच्छाई अवश्य ही आ जाएगी। दुःख को अपनाओ। क्योंकि यह नियम है कि जो अपना हो जाता है वह स्वयं रक्षा करता है। इसलिए जो महानुभाव दुःख को अपना लेते हैं उनकी रक्षा दुःख अवश्य करता है। जो दुःख से डरते हैं उनको दुःख, दुःखी करता है। बुराई को याद करना बुराई से भी अधिक बुराई है। देखो, जिसके चले जाने के बाद यदि आप उसे बराबर याद करते हैं तो वह बेचारा मजबूर होकर कभी–न–कभी आ जाता है। अतः जिसको आप नहीं बुलाना चाहते उसकी बिल्कुल याद मत करो। बुराई की याद करना बुराई को बुलाना है। बुराई के निकल जाने पर अच्छाई अपने आप आ जाती है। क्योंकि स्थान खाली नहीं रहता ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

७८

प्रिय अभिन्न हृदय, काशी

७–४–१९४०

अपनी कमी अनुभव करने पर दुःख, और दूसरों की कमी देखने पर क्रोध आता है। दुःख से बुद्धि शुद्ध हो जाती है, और क्रोध से अशुद्ध हो जाती है। बुद्धि शुद्ध होने पर कर्त्तव्य का ज्ञान स्वयं हो जाता है और बुद्धि अशुद्ध होने पर कर्त्तव्य से विमुख हो जाता है। कर्त्तव्य का ज्ञान होने पर उन्नति की ओर, और कर्त्तव्य से विमुख होने पर अवनति की ओर जाता है। कर्त्तव्य पूरा होने पर कमी मिट जाती है।

विचार दृष्टि से देखो कि कमी वास्तव में जिसमें होती है वह एक है। जिसमें कमी नहीं होती वह भी एक है। जिसमें कमी है उसका संग करने से कमी और जो पूर्ण है उसका संग करने से पूर्णता प्राप्त होती है। शरीर और संसार अंग और अंगी के समान हैं। इसलिए जब तक शरीर में अहंभाव होता है तब तक कमी किसी प्रकार नहीं मिटती। शरीर का अहंभाव मिटते ही विश्व से ऐक्य अनुभव होता है और फिर हृदय शुद्ध प्रेम से भर जाता है। शुद्ध प्रेम प्रेमपात्र से अभेद कर देता है। क्योंकि जिससे प्रेम होता है उसको न भूलता है और न दूरी रहती है। दूरी और भूल मिटते ही अखण्ड समाधि तथा अपार

आनन्द अनुभव होता है। प्रेम करने के लिए सभी समर्थ हैं। इसलिए सद्भाव पूर्वक अभिलाषा होने पर आप आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

७६

मेरे निजस्वरूप, ...

२८—४—१९४०

जिस प्राणी को अपने कर्त्तव्य का बल होता है वह कर्त्तव्य की शक्ति समाप्त कर देने पर भगवत्—प्राप्ति कर पाता है। और जिस प्राणी को अपने कर्त्तव्य का बल नहीं होता वह भगवत् कृपा से भगवत्—प्राप्ति कर लेता है। उनकी कृपा का आधार सर्वोत्तम आधार है। कृपा का अभिलाषी निरन्तर कृपालु की बाट देखता रहता है, यहाँ तक कि प्रेमपात्र की प्रतीक्षा में पलक तक चलाने की फुरसत नहीं मिलती। मन इन्द्रियादि चेष्टा—रहित हो जाते हैं, और हृदय एक अजीब मधुर रस से भर जाता है। ऐसी अवस्था बनाई नहीं जाती, बल्कि हो जाती है। यह नियम है कि बनाई हुई सभी वस्तुएँ मिट जाती हैं, इसलिए अपने को बनाओ मत। जिस समय आपके हृदय की सरलता कम हो उस समय सचेत हो जाना चाहिए। करने के आधार से किसी प्रकार उनको नहीं पाया जा सकता, क्योंकि करने वाले मजदूर होते हैं। कर्त्तव्य का अभिमान सच्ची व्याकुलता होने नहीं देता। अभिमान मिटने पर व्याकुलता अपने आप आ जाएगी।

दूसरों के कर्त्तव्य को वही देखता है जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता। उन्होंने कृपा नहीं की यह कैसे जाना ? आपको जो करना है वह कर डालो। उनको जो करना है वह स्वयं करेंगे । जिसने उनकी कृपा का सहारा पकड़ा है वह सभी पार हो गये हैं, ऐसा अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है। जो संसार का सहारा नहीं पकड़ता उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

जिस समय आप अकेले हो जायेंगे वे बिना बुलाये आ जायेंगे। यदि उनसे मिलना चाहते हो तो अकेले हो जाओ। मिलने से पहले स्तुति करना अपने आप को धोखा देना है। क्योंकि जिसका ज्ञान नहीं उसकी स्तुति कैसी ? मिलने की भावना पूरी होने पर हृदय की जो दशा होती है वही स्तुति है। दूसरों की की हुई स्तुति आपके किस

काम आएगी ? संसार से निराश हो जाओ, यही सच्चा भजन है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

८०

मेरे निजस्वरूप, ...

अप्रेल १९४०

सत्य की अनुभूति मनुष्यमात्र अवश्य कर सकता है। इसके लिए कभी निराश नहीं होना चाहिए। जो सत्य के बिना नहीं रह सकता, उसको सत्य अवश्य मिलता है। अतएव अपने को ऐसा बनाओ कि हृदय सत्य के बिना किसी प्रकार रह न सके। अर्थात् सत्य के बिना मिले सन्तोष न हो। यह उन्नति का मुख्य साधन है। जिसको पाकर फिर कुछ पाना शेष न रहे, उसके मिलने पर समझ लो कि हमको सत्य मिल गया। यह भली प्रकार समझ लो कि सच्चाई को किसी और की गवाही की जरूरत नहीं है। अर्थात् सत्य वह है कि जिसको पाकर किसी प्रकार की चाह नहीं रहती, कोई कमी नहीं रहती। ऐसा मेरा अनुभव है। सत्य सब प्रकार से पूरा है। अतएव सत्य की अनुभूति होने पर असत्य, अर्थात् अपूर्णता मिट जाती है। अपूर्णता, चाह और संसार तीनों एक ही वस्तु हैं। क्योंकि अपूर्णता से चाह, और चाह से संसार की प्रतीति होती है। सत्य की अभिलाषा उत्पन्न होने पर और सब अभिलाषाओं का अन्त हो जाता है। अर्थात् जो भगवान् को चाहता है वह किसी और को नहीं चाहता। सत्य को जानो, मानो मत। असत्य मानने पर जीवित है और सत्य जानने पर अनुभूत होता है। सत्य को मानने की किसी काल में भी आवश्यकता नहीं होती। असत्य का (संसार) का सभी कार्य मानने पर होता है। इसलिए जिन साधनों से असत्य की अनुभूति होती है, उन साधनों से सत्य की अनुभूति किसी प्रकार नहीं हो सकती। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से असत्य जाना जाता है, सत्य नहीं। अतएव सत्य के जानने के लिए अपने आपको बुद्धि आदि से ऊपर उठाओ। ऐसा करने से सत्य का मार्ग दिखाई देगा, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

८१

मेरे निजस्वरूप, ब्रज यात्रा के मार्ग में

३—८—१९४०

संसार के सभी प्राणी परस्पर एक दूसरे से अपने–अपने अधिकार के लिए चीखते हैं, परन्तु पाते नहीं। विचार करने से मालूम होता है कि अधिकार वास्तव में माँगे नहीं जाते और न आसुरी बल के आधार पर प्राप्त किये जाते हैं। यदि किसी की निर्बलता के कारण राक्षसी बल से अधिकार प्राप्त कर भी लिया जाय तो फिर वह अधिकार कुछ काल में अवश्य छिन जाता है। क्योंकि वह अधिकार हृदय पर नहीं होता। अधिकार के समय पर भी विरोधी शक्ति हृदय में काम करती रहती है, और कालान्तर में परस्पर एक दूसरे पर विजय प्राप्त करती रहती है। अर्थात् सच्चा शासन हो ही नहीं पाता। अधिकार तो कर्त्तव्य का दास है। जो अपने कर्त्तव्य का पालन करता है उसको बिना अभिलाषा के भी अधिकार स्वयं प्राप्त हो जाता है और जो प्रेमी अपने आप को मिटा देता है उसका अधिकार प्रेमपात्र पर हो जाता है। यद्यपि कर्त्तव्य की गुलामी परम भूल है परन्तु कर्तव्य पूरा करने पर ही कर्ता से कर्तव्य पार हो सकता है। यदि कर्तव्य से पार होना चाहते हों तो कर्तव्य पूरा करने पर जो अधिकार अपने आप मिले, उससे प्रसन्नता न खरीदो। ऐसा कर्ता, कर्तव्य की गुलामी से छूट जाता है। अर्थात् संसार उस पर शासन नहीं कर पाता। तब प्रेमी प्रेमपात्र की ओर देखने का अधिकारी होता है। और फिर प्रेमपात्र की ओर देखते ही प्रेमी स्वयं मिट जाता है। प्रेमी का कर्त्तव्य क्या है? मिट जाना। मर जाना। अधिकार क्या है ? आनन्द। अर्थात् प्रेमी आनन्द को पाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका अभेदस्वरूप

.....

८२

मेरे निजस्वरूप, मथुरा

१९—८—१९४०

दुःख होने पर संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। अतः दुःख जीवन की परम आवश्यक वस्तु है। सुखी प्राणी कभी संसार को जान नहीं पाता। अतः सुख का विचारपूर्वक त्याग कर देना विचारशील का

काम है, क्योंकि सुख के निर्मूल होने पर दुःख अपने आप मिट जाता है। सुख और दुःख के मिट जाने पर अपार आनन्द की अनुभूति होती है। दुःख रूप भगवान् सुख मिटाने के लिए अवतार लेते हैं। अतः दुःख का हृदय से प्रसन्नता पूर्वक स्वागत करो। प्रेमपात्र के स्मरण चिन्तन तथा ध्यान के आधार पर जीवित मत रहो। क्योंकि ऐसा करने से अहंकार मिटता नहीं, बदल जाता है। अहंकार के रहते हुए आनन्द की अनुभूति किसी प्रकार नहीं हो सकती। अहंकार मिटाने के लिए तो प्रेमपात्र का संग करना होगा।

संग और चिन्तन में बड़ा भेद है। चिन्तन–ध्यान करते हुए कुछ न कुछ दूरी रहती है। और संग करने पर दूरी मिट जाती है। उनका संग करने के लिए अकेले हो जाइये। जब तक और कोई आपके साथ है तब तक उनका संग नहीं हो सकता परम कृपालु निरन्तर प्रतीक्षा कर रहे हैं कि जब आप अकेले हो जायँगे तब वह आपको अपना लेंगे। देखो, कोई भी प्रेमी अपने प्रेमपात्र से किसी के सामने नहीं मिलता। जब प्रेमी और प्रेमपात्र के सिवाय कोई नहीं होता तब मिलाप हो जाता है। ऐसा अनुभव हो चुका है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

८३

प्रिय आत्मस्वरूप, मथुरा

५—९—१९४०

विचार दृष्टि से देखिये। कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं कि जिनके बिना दुःख पूर्वक रहते हैं और कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके बिना सुख पूर्वक रहते हैं। परन्तु विचारशील को तो उसकी खोज करना है कि जिसके बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते। जिसके बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते वह सर्वदा प्राप्त है। परन्तु फिर भी दूरी क्यों मालूम होती है ? यदि इस पर विचार किया जाए तो यही मालूम होता है कि सिर्फ न जानने की दूरी है। हमारी जानने की शक्ति सुख और दुःख में लगी रहती है, इसलिए अपने प्रेमपात्र को नहीं पाते।

सुख का लालच तथा दुःख का भय जीवन का स्वरूप बन गया है। जब यह जीवन बदल जायगा अर्थात् सुख का लालच और दुःख

का भय न रहेगा तब एक अजीब शक्ति आ जायगी जिससे फिर न जानने की दूरी मिट जायगी। शक्ति हीनता को विचार रूप अग्नि में जला दीजिये। विचारशील की गिरावट भी उँचाई का कारण हो जाती है। हारा हुआ योद्धा बड़ी प्रबलता से लड़ता है और अन्त में विजय अवश्य प्राप्त करता है। विजय तो वही नहीं पाता जो हार के डर से डरकर तथा जीत के अभिमान में आकर लड़ने का भाव मिटा देता है। अनेक बार हारने पर भी लड़ने का भाव जीवित रखना विचारशील का काम है। जिसके बिना किसी भी प्रकार रह सकते हैं उसकी इच्छा करना ही बन्धन तथा दुःख का मूल है। जिसके बिना किसी भी प्रकार नहीं रह सकते उसमें अपने को विलीन कर देना मोक्ष तथा आनन्द है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

८४

मेरे निजस्वरूप, चम्बल तट अब्बारी
१९—१२—१९४०

आनन्दघन भगवान् जब विशेष कृपा करते हैं तब रोग के रूप में प्रकट होते हैं। क्योंकि रोग होने पर शरीर का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। शरीर और संसार का स्वरूप एक है, अतः संसार का ज्ञान हो जाता है। इस अभागे शरीर से संसार के प्राणियों को काफी दुःख हुआ है। यदि इसके स्वभाव को देखा जाय तो यही रुचि होती है कि इसका शीघ्रातिशीघ्र अन्त हो जाय तो कोई हानि नहीं। परन्तु स्थूल शरीर के अन्त होने से तो कुछ लाभ नहीं होता। सूक्ष्म और कारण, सभी शरीरों का अन्त हो जाए तो कहीं इस अभागे से छुटकारा मिल सकता है।

ज्ञान का सर्वोत्तम साधन केवल विचार है। सच्चा दुःख होने पर विचार करने की शक्ति जाग्रत होती है। जिसका हृदय दुःख से हरा—भरा रहता है उस हृदय के सभी विकार बड़ी सुगमता से मिट जाते हैं। अतः प्यारे दुःख को अनेक बार धन्यवाद है। विचारशील को दुःख आने पर यही समझना चाहिए कि, मेरा प्रेमपात्र मुझे याद कर रहा है और जब सुख मालूम हो तो समझना चाहिए हम अपने प्यारे से दूर हो रहे हैं। यदि अपना कोई निजी दुःख न भी हो, तो दूसरों के

दुःख से दुःखी होना परम आवश्यक है। ऐसा करने से अपने निजी दुःख का दुःख नहीं होगा। जो प्राणी दुःखियों को आदर भाव से अपना लेते हैं, उनका निजी दुःख इस प्रकार मिट जाता है, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश मिट जाता है। सच्चे सेवक का हृदय सदा पराये दुःख से हरा–भरा रहता है।

सेवा करने के लिए मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है क्योंकि एकान्त में बैठकर भी मौन होकर भी यदि कोई अर्थ का साधन न हो तो भी, सारे संसार की मूक सेवा कर सकता है। संसार भले ही उसको न जाने परन्तु उसकी पवित्र भावनाओं से संसार का कल्याण अवश्य होता है। ऐसा प्राणी कभी न कभी संसार के हृदय पर शासन अवश्य करता है। सेवा की पूर्णता होने पर त्याग के भाव उत्पन्न होते हैं। त्याग आते ही, संसार से विमुख हो आनन्द का अनुभव करता है। और फिर कुछ करना शेष नहीं रहता। त्याग से सभी अभिलाषाएं पूर्ण हो जाती हैं। त्याग जीवन की अन्तिम अवस्था है। त्याग से ही जीवन सार्थक हो जाता है। त्याग करने में करने वाला सर्वदा स्वतन्त्र है।

जो प्राणी संसार के तुच्छ ऐश्वर्य तथा माधुर्य की ओर देखता है, वह अपने प्रेमपात्र अर्थात् निजस्वरूप के अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य से विमुख हो जाता है। यह भली प्रकार समझ लो कि आपकी रुचि के बिना आप के ऊपर संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति शासन नहीं कर सकती। जब आप संसार के तुच्छ ऐश्वर्य तथा माधुर्य को स्वीकार करते है, तब दुःखी संसार आपको दुःख देने के लिए समर्थ होता है। आप अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए सर्वदा समर्थ हैं। अतः उन्नति से निराश होना परम भूल है।

सेवा करने के बदले में जो कुछ मिले उसे स्वीकार मत करो अर्थात् उसका प्रभाव मन पर मत होने दो। यही बड़ी उत्तम बात है। संसार आपको तब जानेगा जब आप अपने को जानेंगे। संसार की ओर से आदर की अभिलाषा को कुचल दो। अर्थात् उसका अन्त कर दो। किसी न किसी का चिन्तन–ध्यान तो रहता ही होगा। क्योंकि चिन्तन–ध्यान की शक्ति तो सिद्धावस्था में मिटती है। ज्ञान बदलता नहीं, अवस्था बदल जाती है। ज्ञान तो सभी वासनाओं के अन्त होने पर होता है और अवस्था चित्त के निरोध होने पर होती है। चित्त का निरोध होने पर भावनाओं की पूर्ति के लिए शक्तियों का विकास होता

है। और ज्ञान होने पर सभी वासनाओं का अन्त होता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

८५

मेरे निजस्वरूप, चम्बलतट, अबारी
८—१—१९४१

प्रेमपात्र का संग कर अचिन्त हो जाओ और सर्वदा अभय रहो। स्मरण, चिन्तन, ध्यान, तथा सज्जनता के आधार पर जीवित रहना प्रेम का अधूरापन है जो किसी भी प्रेमी को शोभा नहीं देता। चिन्तन, ध्यान आदि तथा संग में बड़ा भेद है। ध्यान आदि से माना हुआ अहं—भाव दब जाता है और संग से मिट जाता है। क्योंकि चिन्तन, ध्यान आदि से कुछ न कुछ दूरी अवश्य रहती है। पर संग से किसी प्रकार की दूरी तथा भेद नहीं रहता। चिन्तन—ध्यान आदि अनेक बार करना पड़ता है, और संग केवल एक बार करना पड़ता है, अर्थात् फिर करने का अन्त हो जाता है। जब प्राणी जीवन सन्तोषजनक पाता है तब चिन्तन, ध्यान, आदि करता है, और जीवन से अरुचि होने पर संग करता है।

जीवन का स्वरूप क्या है ?, यह भली प्रकार यथार्थ रूप में जान लेने पर जीवन से अरुचि अपने आप हो जाती है। गुणयुक्त जीवन से सुख तथा दोषयुक्त जीवन से दुःख, जीवन के अभिमानी को होता है। यह सभी जानते तथा मानते हैं। परन्तु इतने से ही जीवन के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। सुखी जीवन से भी दूसरों को दुःख होता है। यह बात सुनने में कुछ अजीब सी मालूम होती है, परन्तु विचार—दृष्टि से देखिए कि दुःख का जन्म कब होता है ? जब प्राणी अपने से किसी विशेष सुखी व्यक्ति को देखता है तब उसके हृदय में दुःख का जन्म हो जाता है। क्योंकि यदि निर्धनों को कोई धनी न दिखाई दे तो निर्धनता का दुःख नहीं होता। अतः सुखी जीवन ने दुःख को जन्म दिया। सुखी जीवन न तो दूसरों को सुखी बना सकता है, और न दूसरों की उन्नति कर सकता है। पूर्ण दुःखी—अधूरा नहीं—अपनी उन्नति करने, तथा दूसरों को सुख प्रदान करने में सर्वदा समर्थ है। क्योंकि दुखियों के बिना सुखियों की सत्ता कुछ नहीं रहती। इस दृष्टि से प्यारा दुःखी पूजन करने योग्य है। दुःखियों का पूजन करने पर जीवन की दोष रहित अवस्था में दुःख का अनुभव हो जाता

है, जो उन्नति का मूल है। पूर्ण दुःख होने पर दोष सहित जीवन का अन्त हो जाता है। अधूरा दुःख अर्थात् सुख की आशा के आधार पर दोष–युक्त जीवन, जीवित रहता है। दोषयुक्त प्राणी अपने को दुःखी करता है तथा दूसरे को भी दुःखी करता है। और गुणयुक्त प्राणी अपने को सुखी तथा दूसरे को दुःखी करता है। इस दृष्टि से तो गुणयुक्त प्राणी, दोषयुक्त प्राणी की अपेक्षा श्रेष्ठ है। परन्तु गुणों का अभिमानी प्रेमपात्र से विमुख अवश्य रहता है। विचार–दृष्टि से देखो, सुखी जीवन से दूसरों को दुःख। और दुःखी जीवन से दूसरों को दुःख और मृत्यु से भी दूसरों को दुःख मृत्यु भी जीवन की एक विशेष अवस्था है, क्योंकि मृत्यु से भी शरीर का संग नहीं छूटता। इस दृष्टि से जीवन का स्वरूप क्या है ? केवल दुःख। इस प्रकार जीवन का स्वरूप जान लेने पर जीवन से अरुचि अवश्य हो जाती है। अरुचि होने पर शरीर तथा संसार से असंगता होती है जो उन्नति का मूल है।

किसी की असंगता से ही किसी का संग होता है। अतः प्रेमपात्र का संग करो । प्रेमपात्र वही है जो सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् जिसके समान दूसरा नहीं है। वह सभी प्राणियों का एक है, अनेक नहीं। उसका संग करने के लिए, अभिलाषा होने पर सभी प्राणी समर्थ हैं। क्योंकि वह किसी का तिरस्कार नहीं करता । उनके सिवाय दुःखी को अपनाने के लिए सभी असमर्थ हैं। अथवा यों कहो कि उनसे भिन्न सभी दुःखी हैं। दुःखी, दुःखी को कैसे अपनायेंगे ? उनका संग न करना ही दुःख का मूल है, जो दुःखी की स्वयं भूल से हुआ है। दुःखी का दुःख उसी समय तक जीवित है, जब तक अभागा दुःखी सुख की आशा में सुखियों की ओर देखता है। सुख तथा सुखियों से असंग होते ही दुःख का सदा के लिए अन्त हो जाता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

८६

मेरी निज–स्वरूप माता जी, काशी

२०–२–१९४१

पत्र के रूप में दर्शन मिला। वृत्तियों का निरोध यद्यपि एक अवस्था है, किन्तु अवस्था से परे होने के लिए निरोध आवश्यक है। क्रिया–जन्य निरोध, और स्वाभाविक निरोध में अन्तर है। असंग होने

पर स्वाभाविक निरोध होता है और भाव के आवेश में आकर क्रिया–जन्य निरोध होता है। क्रिया–जन्य निरोध किसी प्रकार शक्तिदाता अवश्य है, परन्तु शान्ति देने में असमर्थ है। असंगतापूर्वक स्वाभाविक निरोध शक्ति तथा शान्ति दोनों के लिए समर्थ है। जिस प्रकार फल का मूल्य देने से बाग की छाया तथा वायु बिना मूल्य मिलती है उसी प्रकार तत्त्व ज्ञान–पूर्वक, तत्त्वनिष्ठ होने से निरोध अर्थात् योग स्वाभाविक हो जाता है। विश्वासमार्गी प्रथम निरोध और कृपासाध्य विचार उत्पन्न होने पर असंगता का अनुभव करता है। इस दृष्टि से निरोध हृदय तथा दिमाग की एकता वाला विचार अवश्य है। बोध के लिए जिस विचार की आवश्यकता है वह तो राग–रहित अर्थात् भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर तथा तीव्र व्याकुलता बढ़ने पर दुःखहारी हरि विचार के रूप में प्रकट होते हैं। साधारण प्राणी विचार के साधन को विचार अथवा ज्ञान के साधन को ज्ञान और निरोध के साधन को निरोध समझते हैं।

राग से कामना उत्पन्न होती है। कामनाओं के आधार पर ही माने हुए अहंभाव में क्रिया होती है। कामना–रहित होते ही अहंभाव की सत्ता तथा क्रिया शेष नहीं रहती। उस काल में विचार भगवान् गुरुदेव के रूप में प्रकट होते हैं। वह विचार जीवन में सिर्फ एक बार होता है। जो विचार प्रयत्नपूर्वक किया जाता है वह वास्तव में विचार नहीं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होते ही अन्धकार नहीं रहता, उसी प्रकार विचार का उदय होते ही अविचार शेष नहीं रहता। यदि अन्धकार न हो तो प्रकाश की कल्पना की नहीं जा सकती, उसी प्रकार यदि अविचार न हो तो फिर विचार की कल्पना नहीं की जा सकती।

वृत्ति कभी चेतन नहीं होती, वह चाहे रजोगुणी हो अथवा सतोगुणी। क्रिया पर अक्रियता शासन करती है। इस दृष्टि से सतोगुणी वृत्ति, रजोगुणी से आदरणीय है। जिस प्रकार बहुत बढ़िया शीशे के अन्दर लैम्प की रोशनी रहती है, उसी प्रकार सतोगुणी वृत्ति में चैतन्यता प्रतीत होती है। वास्तव में सतोगुणी वृत्ति में चैतन्यता लेशमात्र भी नहीं है। अहम्–स्फूर्ति, अज्ञान नाश करने में समर्थ है, परन्तु स्फूर्ति की संज्ञा निरर्थक है क्योंकि स्फुरण वृत्ति–जन्य ज्ञान है और सत्य कल्पनातीत है। जब तक प्रमाद होता है तब तक अहम्–स्फूर्ति आदरयोग्य है। प्रमाद–रहित तत्त्वनिष्ठा होने पर अहम् से भिन्न कुछ

है ही नहीं। अतः उसमें स्फूर्ति की कल्पना करना, अपना कोई अर्थ नहीं रखता। जिस प्रकार दो की अपेक्षा एक गणना है, एक की अपेक्षा एक नहीं। उसी प्रकार अहम्–वृत्ति की अपेक्षा अहम्–स्फूर्ति बोध है। जब तक असत्, जड़, दुःखरूप की सत्ता स्मृति में शेष है तब तक अहम् में सत्, चित् आनन्द की निष्ठा अनिवार्य है। आत्मा का प्रकाश, आनन्द तथा सत्ता अभेद है, अर्थात् उनमें अलग–अलग भिन्नता नहीं की जा सकती। क्योंकि जो सत् है वही चित् है, वही आनन्द है। अनुभव से भिन्न कथन करना होता है। यही अनुपस्थिति है। चेतन है, ऐसा कथन तब होता है जब चेतन की जिज्ञासा होती है। जब तक किसी प्रकार की दूरी न हो तब तक जिज्ञासा बन नहीं सकती। अर्थात् सभी कथन, चाह होने पर होते हैं। जिस प्रकार भोग की चाह होने पर ही संसार की प्रीति तथा संसार का कथन होता है। उसी प्रकार चेतन योग की चाह होने पर चेतन आदि का कथन होता है। चाह आवश्यकता होने पर, अथवा सुनने पर बनावटी चाह भी होती है। सच्ची चाह, अधिक काल तक नहीं ठहर पाती, पूर्ण हो जाती है और बनावटी चाह अधिक काल तक रहती है। उसी चाह के आधार पर जड़ होकर चेतन का कथन करते हैं। क्या अन्धकार ने कहीं सूर्य को और सूर्य ने कहीं अन्धकार को देखा है ? जड़ होकर जड़ का अनुभव करते हो, और चेतन होकर चेतन का। चेतन की चाह होने पर तीव्र व्याकुलता से भिन्न कुछ नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से जड़ और चेतन का कथन एकमात्र वृत्ति के सिवाय और क्या है ? जड़ से अवस्था–भेद होता है चेतन में भेद नहीं। तत्त्व–दृष्टि से तो सच्चिदानन्दघन से भिन्न कुछ है ही नहीं। प्रीति की सत्ता को स्वीकार करना, जड़ प्रतीति का अभाव कर, चेतना का अनुभव होते ही चेतन से भिन्न कुछ भी नहीं रहता। प्रतीति के साधन बदलने पर प्रतीति बदल जाती है। इस दृष्टि से जड़ में अवस्था–भेद सिद्ध होता है। हृदय तथा दिमाग की एकता होने पर निरर्थक भाव ठहर नहीं पाते, अर्थात् वही भाव उत्पन्न होते हैं जो जीवन का स्वरूप हो जाते हैं। हृदय और दिमाग के एक होने पर सच्चाई का व्यवहार होता है। वह प्राणी अपने आपको धोखा नहीं दे पाता। उसको आगे–पीछे का व्यर्थ चिन्तन करने की फुर्सत नहीं मिलती। वह बेचारा असत् होकर सत् की बातें नहीं करता। वह प्रीतम की प्रशंसा ही सुनकर सन्तोष

नहीं कर लेता।

विषय–राग उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक दुःख की कमी पूर्ण नहीं होती। दुःख की कमी पूर्ण होने पर विषयों में राग लेशमात्र भी शेष नहीं रहता। दुःख की कमी पूर्ण करने के लिए विश्व के साथ नाता स्थापित करना अनिवार्य है। संसार से भिन्न होकर जो दुःख है वह तो सिर्फ दुःख का ज्ञान कराने के लिए समर्थ है। दुःख का ज्ञान होने पर विश्व का दुःख अपना दुःख होना चाहिए। यही दुःख का पूर्ण होना है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

८७

मेरे निज–स्वरूप, ...

२३–२–१९४१

आत्म–समर्पण का वही अधिकारी है, जो अपनी पूर्ति के लिए संसार की ओर नहीं देखता, अर्थात् यह भली प्रकार समझ लेता है कि संसार मेरी पूर्ति में असमर्थ है। ऐसा होते ही विषयों के चिन्तन का अन्त हो जाता है। विषयों के चिन्तन का अन्त होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध नहीं रहता। बस उसी काल में आत्मनिष्ठ, आत्मवित् (अभेद) हो जाता है क्योंकि अविषय होने पर मन की सत्ता शेष नहीं रहती। यही अखण्ड ध्यान है।

जो चाह किसी प्रकार मिटाई न जा सके और जिसकी पूर्ति संसार भी न कर सके, ऐसी दशा में बेचारा चाह करने वाला, काफी दुःखी हो जाता है। उस दुःख की निवृत्ति के लिए वह अनेक प्रकार के मनोराज्य करता है। मनोराज्य के लालच में फँसा हुआ कभी दुःखी, कभी सुखी हुआ करता है, परन्तु स्थिरता नहीं पाता। उसके लिए प्रेमपात्र को समर्पण कर देने के सिवाय और कोई साधन शेष नहीं रहता। समर्पण करने पर किसी प्रकार की अपनी निजी रुचि जीवित नहीं रखनी चाहिए। सिर्फ लक्ष्य की पूर्ति का भाव हो। प्रेमपात्र में किसी प्रकार की कमी नहीं देखना चाहिए। अपने और प्रेमपात्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार के भाव का अन्तर नहीं होना चाहिए अर्थात् यह अखण्ड धारणा हो कि मेरा प्रेम–पात्र मेरी कमी की पूर्ति के लिए

सर्वदा समर्थ है। इस भाव के आते ही अपने में सच्चा संतोष आ जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

८८

मेरे निज–स्वरूप, लखनऊ

६–३–१९४१

साधारण प्राणी अभ्यास का अभ्यास करते हैं। और विचारशील वैराग्य का अभ्यास करते हैं। अभ्यास का अभ्यास एक प्रकार की अवस्था होती है, इसलिए स्थायी नहीं रहती। वैराग्य का अभ्यास करने से स्वरूप–स्थिति होती है, इसलिए वह स्थायी रहती है। राग मिटाने के लिए भगवान् दुःख के स्वरूप में प्रकट होते हैं और इच्छाओं की पूर्ति के लिए सुख के स्वरूप में। सुख और दुःख कुछ–न–कुछ सिखाने के लिए ही आते हैं। हर रूप में उनके सिवाय और किसी को न देखो, किन्तु लक्ष्य–दृष्टि से अपने में ही उनको देखो। सुख–दुःख तथा अपने स्वरूप में उनका ही अनुभव हो। जब यह भाव आ जाता है कि वे ही इच्छाओं की पूर्ति के लिए सुख के रूप में प्रकट हुए हैं और राग मिटाने के लिए दुःख के रूप में प्रकट हुए हैं, तब फिर दुःख और सुख की सत्ता नहीं रह जाती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

८९

प्रिय आनन्दघन माता, दारा नगर, बनारस

७–४–१९४१

कृपा पत्र मिला। उत्तर में देरी हुई। क्षमा करियेगा।

क्रिया को भाव में विलीन करने का अर्थ यही है कि शरीरादि से जो कुछ क्रिया हो वह एक ही भाव में विलीन हो जाय, अर्थात् प्रेम–पात्र की सेवा का भाव रहे। आन्तरिक अर्थ यह है कि क्रिया–शक्ति शान्त होकर केवल भाव रह जाय। क्रिया–शक्ति के शान्त होते ही इन्द्रियादि की चेष्टा नहीं रहती और फिर संसार का अभाव हो जाता

है। संसार का अभाव होते ही भाव–शक्ति प्रेम–पात्र में विलीन हो जाती है उस अवस्था का वास्तविक ज्ञान होने पर भाव–शक्ति ज्ञान में विलीन हो जाती है। जिस प्रकार मिट्टी का घड़ा टूटने पर मिट्टी का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार क्रिया–शक्ति तथा भाव–शक्ति का अभाव होने पर सत्य का ज्ञान हो जाता है। जिसको एक बार मिट्टी का ज्ञान हो जाता है, उसको फिर अनेक घड़े दिखने पर भी मिट्टी ही मालूम होती है, अर्थात् संसार तथा प्रेम–पात्र में कुछ भी अन्तर नहीं मालूम होता।

रोना सर्वोत्तम साधन है, परन्तु विचारपूर्वक होना चाहिए। रोने से जो अवस्था प्राप्त होती है, यदि उस अवस्था में सन्तोष कर लिया जाय, तो साधन खुराक बन जाता है। इसलिए जो सबसे अन्तिम अवस्था होती है, अर्थात् जो रस मालूम होता है उसको भी सत्य मत समझो, अर्थात् उससे भी ऊपर उठ जाओ। अन्त में जिसका अभाव किसी प्रकार न हो, उसमें स्थायी अपनत्व अनुभव करो। भाव से उत्पन्न होने वाला जो रस है उसका आस्वादन करने से साधन खुराक बन जाता है। यद्यपि संसार के रस से भाव का रस कहीं अधिक मधुर है, परन्तु अपार नित्य रस की तुलना में उसका मूल्य कुछ भी नहीं है। भाव के रस के आधार पर अहंभाव को जीवित रखना परम भूल है। इस रस ने बड़े–बड़े विरक्तों को गुलाम बनाया है। इसलिए बड़ी सावधानीपूर्वक उसका त्याग करो। उसका त्याग प्राणों से भी अधिक कठिन है, क्योंकि उस रस के लिए प्राणों का देना कुछ भी मूल्य नहीं रखता। कारण, कि उस रस का आस्वादन मन को कैद कर लेता है।

मन की प्रसन्नता के लिए प्राण साधारण मनुष्य भी दे देते हैं। उस रस का त्याग करते ही अहंकार मर जायगा, और जिस प्रकार हरे वृक्ष की मूल काट देने पर कुछ दिन तक वह हरा–भरा दीखता है, परन्तु अन्त में सदा के लिए मिट जाता है, उसी प्रकार अहंकार के मिटते ही कुछ दिन तक शरीर हरा–भरा दीखता है परन्तु अन्त में सदा के लिए शान्त हो जाता है। अहंकार के गलते ही प्रेमी और प्रेम–पात्र एक हो जाते हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६०

मेरे निजस्वरूप, टूण्डला

१७—५—१९४१

विश्व एक जीवन है, भिन्नता का भाव मिटा दो। पूर्ण चाह रहित हो जाने पर एक जीवन का अनुभव होगा। चाह की दीवारों ने एक जीवन अनुभव करने की शक्ति छिपा दी है।

"ओ३म्" का जप करने का अर्थ यही है कि "मैं शरीर नहीं बल्कि आनन्दघन आत्मा हूँ।" अपने प्रियतम को अपने से भिन्न किसी और में अनुभव मत करो। अपने में पूर्ण संन्तुष्ट हो जाने पर, करने का भाव उदय नहीं होता। करने का भाव मिटते ही अहंकार मिट जाता है। मन, बुद्धि आदि को बदलने की कोशिश मत करो, बल्कि उनसे असंग हो जाओ। मन बुद्धि आदि, सभी विषयों की चाह मिटने पर, परम पवित्र हो जाते हैं। शरीर भाव तथा सम्बन्ध भाव का त्याग करने पर आत्म—भाव जाग्रत हो जाता है। निरन्तर आत्म—अनुभव करने का प्रयत्न करो। शरीर भाव की ऐनक आत्म रूपी आँख से उतार दो। विषयों का अनुभव करने को शरीर रूपी यन्त्र मिला था, विषयों की चाह मिटने पर शरीर रूपी यन्त्र बेकार हो जाता है। यदि लेशमात्र भी शरीर में सार्थकता प्रतीत होती है तो समझलो कि अभी विषयों का राग छिपा है। निज—स्वरूप का प्रमाद न हो यही अभ्यास निरन्तर किया जाए।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६१

मेरे निजस्वरूप, राजघाट

२३—५—१९४१

सब प्रकार की परिस्थितियों से निसंग होने जैसा अनुभव होता है, यद्यपि वह कहने में नहीं आता, परन्तु उसके बिना और किसी प्रकार से निजानन्द का अनुभव हो नहीं सकता। निजानन्द के बिना स्थायी प्रसन्नता मिल नहीं पाती। जिससे देश काल की दूरी है, वह प्रेम पात्र हो नहीं सकता। निर्दोषता से प्रीति और सदोष का त्याग स्वाभाविक होता है। परन्तु राग—द्वेष होने पर यह स्वाभाविक स्वभाव

दब जाता है। गहराई से देखो—शरीर में अनेक दोष हैं, परन्तु राग होने के कारण असंग होना कठिन सा हो गया है। इसका कारण केवल राग है, और कुछ नहीं। जिससे राग होता है उसकी प्रतिकूलता होने पर द्वेष अपने आप आ जाता है। पूरी तरह राग मिटने पर द्वेष मिट जाता है। जिसको शरीर से राग नहीं रहता, उसको किसी भी वस्तु से राग नहीं रहता। राग त्याग से मिटता है। राग मिटते ही पवित्र प्रेम का उदय होता है, प्रेम का उदय होते ही भिन्नता का भाव मिट जाता है। भिन्नता का भाव मिटते ही निर्भरता, समता, प्रसन्नता, निर्विकल्पता, अपने आप आ जाती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६२

प्रिय आत्मस्वरूप, राजघाट

२८—५—१९४१

रहना वहीं उचित है जहाँ चित्त में प्रसन्नता रहे अथवा जहाँ रहना पड़े । यदि बाहरी परिस्थिति अनुकूल न हो तो चित्त को बदल देना चाहिए। जीवन यात्रा वीरता पूर्वक व्यतीत करना है। सुख और दुःख बनाए हुए खिलौने हैं। इनका अपने ऊपर प्रभाव नहीं होने देना चाहिए। हृदय में दीनता तथा अभिमान की अग्नि न जलने पाये बल्कि आनन्द का सागर लहराता रहे। प्यारे ! आनन्द से जातीय सम्बन्ध है। जिससे जातीय सम्बन्ध होता है, उसका अभाव नहीं होता बल्कि प्रमाद अवश्य होता है। प्रमाद का कारण केवल अविचार है।

विचार से अविचार मिटाकर वर्तमान में ही निजानन्द का अनुभव कर अभय हो जाओ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६३

मेरे निजस्वरूप, ...

१९—९—१९४१

साधारण मानव तथा असाधारण मानव के व्यवहार में क्या अन्तर होता है ? साधारण मानव अपनी रुचि के अनुसार स्वादिष्ट भोजन

को उत्तम भोजन मानते हैं। परन्तु असाधारण अर्थात् विचारशील, उसी भोजन को उत्तम मानते हैं, जिसके खिलाने में खाने वाले की अपेक्षा खिलाने वाले को अधिक प्रसन्नता होती है। अभक्ष्य वस्तुओं को भोजन के अर्थ में नहीं समझना चाहिए। साधारण मानव उन्हीं वस्त्राभूषणों को उत्तम मानते हैं जो उनकी रुचि के अनुसार हों परन्तु विचारशील, केवल पहनाने वाले की प्रसन्नता जिन वस्त्रादि से होती हों, उन्हीं को उत्तम मानते हैं। साधारण मानव उसी समुदाय को पसन्द करते हैं जो उनकी पूर्ति में समर्थ हो। परन्तु विचारशील तो केवल समुदाय की पूर्ति के लिए ही समुदाय में रहना पसन्द करते हैं। गहराई से देखो, जाग्रत अवस्था और स्वप्नावस्था में समुदाय का संग होता है, उन दोनों अवस्थाओं में यदि कभी सुख की झलक आ भी जावे तो दुःख कहीं अधिक मात्रा में होता है। परन्तु सुषुप्ति, समाधि तथा मुक्ति आदि में किसी प्रकार के समुदाय का संग नहीं होता। वहाँ दुःख का लेशमात्र भी नहीं होता। इसी कारण विचारशील समुदाय से सुख की आशा नहीं रखते।

सुषुप्ति और समाधि में यही अन्तर है कि सुषुप्ति में अज्ञान और समाधि में ज्ञान है। समाधि और मुक्ति में यही अन्तर है कि समाधि के कारण शरीर शेष रहता है, और मुक्ति में शरीर का अन्त हो जाता है। सुषुप्ति थकावट से होती है, और समाधि विषय–राग मिटने से। मुक्ति तत्त्व ज्ञान से होती है। विषय–विराग दुःख से होता है, तत्त्वज्ञान जिज्ञासा से होता है। वह जीवन धन्य है जो दुःख का आदर तथा सुख का निरादर करता है। सुख का तब अनुभव करता है जब किसी दुःखी की अपेक्षा होती है। जैसे निर्धन की अपेक्षा धनी को सुख है या यों कहो कि निर्धन की कृपा से धनी को सुख है।

सुख जीवन की सबसे बुरी अवस्था है। क्योंकि आनन्द की अभिलाषा जाग्रत नहीं हो पाती। आनन्द यद्यपि अपनी जातीय वस्तु है पर इस अभागे सुख ने उस जातीय वस्तु से हटा कर अपनी ओर आकर्षित कर दीन बना दिया है। परमप्रिय दुःख की शरण लेकर सुख को हटाओ।

दुःख क्या है ? आनन्द के बिना किसी प्रकार चैन न हो। यही पवित्र दुःख का स्वरूप है। सुख की अभिलाषा तो सुख की गुलामी है, दुःख नहीं। सुख, इन्द्रिय तथा विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है,

परन्तु आनन्द का अनुभव विषयों के त्याग से होता है। विषयों का त्याग करने के लिए संसार की आवश्यकता नहीं होती। संसार की आशा तो केवल विषयी प्राणी करता है। आनन्द की अभिलाषा जाग्रत होने पर विषय–अभिलाषा मिट जाती है। किसी भी व्यक्ति को व्यक्तिगत भाव से मत देखो, अपनी ओर से जिस भाव की कल्पना की हो, उस भाव से देखो, अथवा भगवत् भाव से या अभेद भाव से देखो। भाव कर्ता की योग्यता के अनुसार होता है। अनेक क्रियाओं के करने का ढंग, भिन्न–भिन्न प्रकार का होते हुए भी क्रियाओं का अर्थ एक होना चाहिए। क्योंकि जीवन का लक्ष्य एक है। जो प्रेमी प्रेमपात्र के नाते से सभी क्रियाओं को करता है, उसकी अनेक क्रियाएँ एक ही अर्थ में विलीन हो जाती हैं।

संसार में वही आदर पाता है जो अपना मूल्य संसार से अधिक कर लेता है, अर्थात् जो संसार की प्रसन्नता के लिए उसकी ओर देखता है, अपनी प्रसन्नता के लिए नहीं। ऐसा विचारशील, संसार का चिन्तन नहीं करता, बल्कि संसार उसका चिन्तन करता है। हृदय में किसी के भी प्रति, लेशमात्र भी द्वेष न हो बल्कि प्रेम का सागर लहराता रहना चाहिये। हृदय में किसी भी वस्तु के प्रति लेशमात्र भी दीनता न हो बल्कि सभी वस्तुओं के प्रति असंग, उदासीन रहना चाहिए। साधारण मनुष्य, जिनकी प्रसन्नता मिट्टी के मकान, तथा मल–मूत्र पूर्ण शरीर के आधार पर जीवित है, वे बेचारे दया के पात्र हैं। यदि उनके हित के लिए आवश्यकतानुसार उदासीनता धारण करनी पड़े तो कोई हानि नहीं। उदासीनता द्वेष नहीं होती। यह भली प्रकार समझ लो कि पवित्र उदासीनता, मानव जीवन का सर्वोत्तम भूषण है। इस भूषण को पहनते ही संसार का मूल्य घट जाता है। यही वह ऐनक है कि जिसके लगाने से अनेक प्रकार का संसार, एक सा प्रतीत होने लगता है। यही वह कवच है जिसे पहनने से सुख–दुःख रूपी वाणों का प्रभाव नहीं होता ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६४

प्रिय आनन्द स्वरूप, अजमेर

२३—११—१९४१

जीवन की आशा प्रायः सभी को होती है परन्तु जीवन का सदुपयोग विचारशील ही कर पाते हैं। जीवन का सदुपयोग होने पर जीवन की आवश्यकता शेष नहीं रहती। अर्थात् नित्य जीवन के बिना चैन से रहना हृदय की दुर्बलता तथा बुद्धि का प्रमाद है। हृदय की दुर्बलता सुख के आधार पर जीवित है। और बुद्धि का प्रमाद अविचार के आधार पर जीवित है। अविचार को विचार से और सुख को दुःख से मिटा दो। जो मानव दुःख के आने पर दुःख का सदुपयोग नहीं करते उनको अनेक बार दुःख की शरण लेनी पड़ती है। दुःख का सदुपयोग करो। संसार की वस्तुओं से अपना मूल्य अधिक करलो। विषय रूपी वन में कब तक रहोगे ? क्या प्रेमपात्र की याद नहीं आती? यदि आती है तो उसके लिए क्या करते हो ? यदि नहीं आती तो क्यों नहीं आती ? क्या उनके बिना आनन्द अनुभव कर सके हो ? यदि नहीं कर सके तो किस आधार पर जीवित हो ? इन सभी आवश्यक प्रश्नों को सद्भावपूर्वक उत्पन्न करलो। प्रश्न उत्पन्न होने पर उनकी पूर्ति के साधन स्वयं आ जाएँगे।

दुःखी त्याग से, सुखी सेवा से उन्नति करता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६५

मेरे निज स्वरूप, चम्बल तट

१—२—१९४२

रोग शरीर का राग मिटाने के लिए, अथवा दूसरों का पुण्य—कर्म बढ़ाने के लिए आता है। अथवा आरोग्य शरीरों को सुख प्रदान करने के लिए आता है। रोगावस्था में शरीर के साथ मजाक करने का अवसर मिलता है। रोग होने पर निज स्वरूप में निष्ठा हो जानी चाहिये, क्योंकि दुःख से असंगता स्वाभाविक होती है। जैसे टूटे मकान में सूर्य का प्रकाश और वायु अपने आप आते हैं। उसी प्रकार रोग आ जाने पर वैराग्य रूपी वायु और ज्ञान रूपी प्रकाश स्वयं होता है। शरीर

तथा संसार की अनुकूलता की आशा मत करो। शरीर की सत्यता तथा सुन्दरता मिट जाने पर काम का अन्त हो जाता है। काम का अन्त होते ही राम अपने आप आ जाते हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६६

मेरे निज स्वरूप,　　चम्बल तट
१०—२—१९४२

मैं क्या हूँ ?

गहराई से देखो जब आप अपने को शरीर से मिला देते हैं, तब आप अपने को संसार का अंग मानते हैं। उस मानी हुई अवस्था में, अर्थात् शरीर—भाव को लेकर संसार की सेवा करनी चाहिये। सेवा प्रेम को उत्पन्न करने का सर्वोत्तम साधन है। सेवा से की हुई प्रवृत्ति, स्वाभाविक निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि सेवक की रुचि, उस प्रवृत्ति से कुछ लेने को नहीं होती।

जब आप अपने में जिज्ञासु भाव धारण करते हैं, अर्थात् आप में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि "मैं क्या हूँ ? संसार क्या है ? सत्य क्या है ?" तब आपको दोष युक्त सत्ता का त्याग और निर्दोषता से अपनत्व करना चाहिए, सभी दोष युक्त वस्तुओं से असंग होने पर अर्थात् निर्दोषता से अभेद होने पर, उत्पन्न हुए सभी प्रश्न स्वयं हल हो जायेंगे। जब तक दोष युक्त सत्ता से संग रहता है तब तक यथा समय अनेक प्रश्न तथा भाव उठते ही रहेंगे। जीवन का यह समय सर्वोत्कृष्ट समय है कि जब अपने पर सद्भावपूर्वक प्रश्न उठने लगते हैं, क्योंकि प्रश्न का स्थायी हो जाना उत्तर का सर्वोत्तम साधन है। प्रत्येक प्रश्नकर्ता कल्पतरु की छाया में निवास करता है। यदि यह कहो कि फिर प्रश्न हल क्यों नहीं होते ?, तो उसका कारण प्रश्न का अधिक काल तक स्थायी न रहना है। साधारण प्राणी कठिनाई के भय से प्रश्नों को दबाते रहते हैं। यह उनकी परम भूल है। प्रश्न का उत्पन्न होना परम सौभाग्य है। जब तक प्रश्न स्वयं हल न हो तब तक समझ लो कि प्रश्न अभी हृदय और बुद्धि दोनों से नहीं उत्पन्न हुआ। अथवा यों कहो कि बुद्धि तथा हृदय में अभी एकता नहीं हुई। बुद्धि

और हृदय की एकता होते ही आवश्यक शान्ति अवश्य आ जाती है। ऐसा अनेक बार अनुभव हुआ है।

मैं कहाँ रहूँ ?

गहराई से देखो व्यक्ति भाव से प्रत्येक जीवन पथिक के समान है। यह आप जानते ही होंगे कि पथिक कहाँ ठहरते हैं। सराय में, या धर्मशाला में, या किसी धर्मात्मा का अतिथि बन कर पथिक ठहरता है। परन्तु वास्तव में पथिक ठहरता नहीं बल्कि थकावट दूर करता है। अर्थात् शक्ति–संचय करता है। हे जिज्ञासु ! शक्ति संचय के लिए विषय–निवृत्ति सर्वोत्तम स्थान है और स्वभावतः प्राप्य भी है। ठहरने में स्वतन्त्रता भी है। जब आवश्यक शक्ति आ जावे तब अभिलाषानुसार अपने आनन्दघन प्रेमपात्र में, अर्थात् निज स्वरूप में सर्वदा ठहरना। जिज्ञासु रूपी पथिक को तब तक चलते रहना चाहिए जब तक चलने की शक्ति तथा मार्ग का अन्त न हो जाए। चलने की शक्ति कब तक रहती है। यदि इस पर विचार किया जाए तो यही प्रतीत होता है कि जब तक किसी भी क्रिया से, भाव से तथा अवस्था से रसास्वादन होता रहता है तब तक पथिक चलता ही रहता है। यदि चलने का अन्त करना है तो किसी भी क्रिया, भाव तथा अवस्था से रस न लो। अवस्थाओं से परे मार्ग भी शेष नहीं रहता, अर्थात् ठहरने का स्थान आ जाता है, वही आपका निज स्वरूप है।

मैं सब कुछ भूल जाऊँ ?

यह भाव तब उठता है, जब हृदय में दुर्बलता तथा मस्तिष्क से थकावट हो। क्या चूहे के आँख बन्द करने से बिल्ली भाग जाएगी ? कदापि नहीं। भूल मत जाओ, बल्कि, भूल का अन्त कर दो। भूल का अन्त होते ही सब कुछ निकल जाता है। और जो है, वह मिल जाता है। सब कुछ क्या है ? शरीर भाव धारण करने पर संसार, और प्रेमी हो जाने पर, प्रेम–पात्र और बोध हो जाने पर निजस्वरूप। जिज्ञासा काल में सब कुछ अनित्य सत्ता प्रतीत होती है। बोध काल में अनित्य, मिथ्या हो जाता है और विषयासक्ति काल में सब कुछ सत्य सा मालूम होता है। वास्तव में तो सब कुछ क्या है ? कुछ नहीं ! कुछ नहीं की निवृत्ति कैसे होगी ? कुछ नहीं से। कुछ नहीं का अर्थ क्या है ? पूर्ण निवृत्ति । पूर्ण निवृत्ति कैसे होती है ? अपने आप। परन्तु प्रतीत क्यों

नहीं होती ? प्रवृत्ति का लालच शेष रहने पर। प्रवृत्ति का लालच कब तक रहता है ? जब तक सभी प्रवृत्तियाँ एक ही भाव से नहीं की जातीं। भाव में भिन्नता कब तक रहती है ? जब तक प्रवृत्ति से रस लिया जाए।

प्रवृत्ति काल में प्रवृत्ति पूर्ण हो, किन्तु अपने लिए न हो ऐसा जीवन हो जाने पर पूर्ण निवृत्ति तथा पूर्ण प्रवृत्ति होने पर प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में भेद नहीं रहता। भेद मिटते ही सब प्रकार के व्यर्थ चिन्तन का अन्त हो जाता है। अथवा यों कहो कि स्वाभाविक अभिलाषा के अनुरूप, स्वरूप, हो जाता है। यह सभी जानते हैं कि अभिलाषा के अनुरूप स्वरूप होने पर अभिलाषा शेष नहीं रहती। अभिलाषा मिटते ही, मैं क्या हूँ ? संसार क्या है ? सत्य क्या है ? अपने से भिन्न अनुभव नहीं होता।

द्वेष तथा त्याग में भेद है। द्वेष से अरुचि तो हो जाती है किन्तु जिससे द्वेष किया जाता है उससे सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता। त्याग से अरुचि स्थायी हो जाती है और सम्बन्ध–विच्छेद भी हो जाता है। जिसका त्याग करना हो, त्याग–कर्ता उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता क्योंकि सत्ता को स्वीकार न करने पर ही पूर्ण त्याग हो जाता है। जो सत्ता को स्वीकार करते हैं और त्याग भी करना चाहते हैं, वे त्याग तो नहीं कर पाते बल्कि अपना कुछ मूल्य बढ़ा लेते हैं। मूल्य बढ़ जाने पर निरादर मिट जाता है। साधारण प्राणी उसको त्याग मान बैठते हैं। गहराई से देखो, त्याग आने पर, प्रेम स्वयं आ जाता है। प्रेम से ज्ञान अपने आप हो जाता है। त्याग कब उत्पन्न होता है ? जब अपने में से मानी हुई अहंता निकाल दी जाय। मानी हुई अहंता निकल जाने से विषयों का राग शेष नहीं रहता। अतः राग मिटते ही त्याग आ जाता है। वह सभी जानते हैं।

अब पाठक समझ गये होंगे कि क्या करना चाहिए। प्रथम माने हुए भाव के अनुसार सेवा करना। कब तक ? जब तक जिज्ञासा उत्पन्न न हुई हो। जिज्ञासा उत्पन्न होने पर मानी हुई अहंता का निकाल देना ही परम कर्त्तव्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !
आपका अभेदस्वरूप

.....

६८

मेरे निज—स्वरूप, ...

३०—३—१९४२

भोगी सदैव अपने में दीनता का अनुभव करके अपनी पूर्ति के लिए संसार तथा ईश्वर का मुखापेक्षी रहता है।

योगी संसार से अपना मूल्य अधिक रखता है परन्तु ईश्वर का दीन रहता है।

तत्त्ववेत्ता संसार तथा ईश्वर दोनों से अभेद हो दोनों को अपने में लीन कर लेता है।

भोगी बेचारा संसार की कोई सेवा कर नहीं पाता। योगी स्थूल सूक्ष्म किसी न किसी क्रिया द्वारा ही संसार की सेवा करता है। तत्ववेत्ता बिना किसी क्रिया के ही संसार की सेवा पूर्ति करता है। उदाहरण के लिए जैसे कोई निर्धन जब धनी के पास जाता है तो पहले धनी इस निर्धन के दुःख से दुःखी होकर धन द्वारा उसकी पूर्ति करता है। धनी के समीप जाते ही निर्धन शान्त और धनी अशान्त हो जाता है। योगी के समीप जाने पर दुःखी शान्त और योगी दुःखी के दुःख की अशान्ति से अशान्त होता है। योगी अपनी सूक्ष्म शक्तियों द्वारा दुःखी की अशान्ति हर लेता है।

तत्ववेत्ता दुःखियों के दुःख से दुःखी नहीं होता फिर भी दुःख हर लेता है। क्योंकि सर्वोत्तम सेवा वही कर पाता है जिसको किसी प्रकार का कभी दुःख नहीं होता । उसे संसार भले ही न जाने किन्तु संसार की सबसे बड़ी सेवा उसी के द्वारा होती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

६९

मेरे निजस्वरूप, ...

५—४—१९४२

राम को कौन पाता है ? और कहाँ ? राम को वही पाता है जो काम का अन्त कर देता है। अर्थात् जिसको वस्तुओं में, अवस्थाओं में, परिस्थितियों में सौन्दर्य नहीं प्रतीत होता तथा जिसके लिए सभी परिस्थितियाँ कंटक हो गयी हैं।

राम अपने में, अथवा रामायण में, अथवा राम की अभिलाषिणी सीता में, अथवा अपने भक्तों में, अथवा पूर्ण दुःखियों में मिलते हैं। 'पूर्ण दुःखी' वह है जिसे संसार प्रसन्नता नहीं दे पाता । 'भक्त' वह है जो राम से विभक्त नहीं होता। 'सीता' वही है जो राम के बिना किसी प्रकार रह नहीं सकती।

अशुद्ध भोजन से शरीर अशुद्ध हो जाता है तथा अशुद्ध चिन्तन से सूक्ष्म शरीर आदि अशुद्ध हो जाते हैं। क्योंकि जिस प्रकार अन्न आदि स्थूल शरीर का भोजन है उसी प्रकार स्मरण, चिन्तन, ध्यान आदि सूक्ष्म शरीर का भोजन है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१००

मेरी निज—स्वरूप माता जी, काशी

९—५—४२

कृपा पत्र मिला। जो प्राणी वर्तमान परिस्थिति से उत्पन्न सुख तथा दुःख का सदुपयोग करता है वह सहज ही में असार संसार से पार हो जाता है।

सुख का सदुपयोग सेवा और दुःख का सदुपयोग त्याग है। जब सुखी प्राणी सुख दुःखियों को बाँट देता है तब सुख आनन्द में बदल जाता है, क्योंकि सुख बाँटने पर हृदय पवित्र दुःख से भर जाता है। पवित्र दुःख वासनाओं का अन्त करने में समर्थ है। वासनाओं का अन्त होने पर मानी हुई अहंता मिट जाती है। मानी हुई अहंता के मिटने पर केवल आनन्द ही आनन्द शेष रहता है।

जब प्राणी सेवा करने के योग्य अपने को नहीं पाता तब केवल त्याग से ही आनन्द पा सकता है। सभी वस्तुओं से, अवस्थाओं से तथा परिस्थितियों से सम्बन्ध–विच्छेद कर देना ही सच्चा त्याग है। वस्तुओं आदि से सम्बन्ध शेष न रहने पर हृदय वासना रहित हो जाता है। निर्वासना परम पवित्र अमूल्य आनन्द प्रदायिनी परम औषधि है, जो सभी रोगों को मिटाने में सर्वदा समर्थ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१०१

मेरे निज–स्वरूप, सप्त सरोवर, हरिद्वार
२८–६–१९४२

जिस प्रकार भोजन आदि करने से शरीर स्वस्थ रहता है, उसी प्रकार अपनी अनुभूति को यदि अपना लिया जाए तो प्राणी स्वस्थ होकर अपने निज–स्वरूप अर्थात् अपने प्रेमपात्र का अनुभव कर सकता है।

अनुभूति का निरादर करने से अनुभूति घट जाती है और आदर करने से बढ़ जाती है। जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाते हैं, और साधारण प्राणी घटना का चिन्तन करते रहते हैं, जो व्यर्थ है। जो प्रसन्नता किसी भी माने हुए आधार पर उत्पन्न हुई है वह कभी न कभी घोर दुःख में विलीन होगी। अतः सभी माना हुआ निकाल देने पर स्थायी प्रसन्नता मिल सकती है। मानी हुई सभी सत्ताएँ केवल विश्वास के आधार पर जीवित हैं। विश्वास की आवश्यकता उस समय तक होती है जब तक अनुभूति का आदर नहीं होता। अनुभूति का आदर होने पर यथार्थ ज्ञान होता है, जिससे नित्य जीवन प्राप्त होता है। संसार का सभी व्यवहार विश्वास के आधार पर जीवित है, अर्थात् विश्वास के निकाल देने पर व्यवहार नहीं हो सकता। परन्तु यह सभी विचारशील जानते हैं कि प्रत्येक व्यापार का स्वभावतः अन्त, जिस निर्दोष तत्त्व का संकेत करता है, उसका अनुभव करने पर ही, स्वतन्त्रता, प्रसन्नता, निर्भयता, समता आदि अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य जीवन का स्वरूप हो जाता है, जो प्राणी की स्वाभाविक अभिलाषा है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१०२

प्रिय आत्मस्वरूप, गंगातट सप्त सरोवर, हरिद्वार
५–७–१९४२

पत्र के रूप में दर्शन मिला। प्रवृत्ति बुलाने पर आती है और अपने आप चली जाती है। निवृत्ति भले ही अच्छी न लगे लेकिन आती भी है अपने आप । प्रवृत्ति, निवृत्ति में विलीन होकर, निवृत्ति प्रेमपात्र

से अभेद करने में समर्थ है, अथवा यों कहो कि संसार की अपूर्णता का संकेत है। प्यारे ! इन्द्रियादि की प्रवृत्ति का स्वाभाविक अन्त जिस निर्दोष तत्व का संकेत करता है, उसकी ओर जाना अनिवार्य है क्योंकि प्रेमी का वही प्रेमपात्र है—जिसका त्याग न हो सके। जिसका त्याग किया जा सकता है, वह प्रेमपात्र नहीं हो सकता। अतः प्रवृत्ति केवल मार्ग का स्थान है, रहने का नहीं। इस वर्ष चतुर्मास अजमेर में होगा। चतुर्मास के विधान के अनुसार पूर्णमासी तक वहाँ पहुँच जाना चाहिए।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !
आपका अभेदस्वरूप

.....

१०३

भक्तवर माता जी, अजमेर

२६—१०—४२

जोधपुर से वापस आने पर पत्र स्वरूप में दर्शन मिला। साधारण प्राणी साधन को जीवन का अंग बनाते हैं और विचारशील जीवन को साधन बनाते हैं।

गहराई से देखिये—वर्तमान जीवन, वास्तविक नित्य जीवन का एक मात्र साधन है। परन्तु जब प्राणी प्रमादवश वर्तमान जीवन को ही जीवन मान लेता है तब अनेक साधनाओं से जीवन को सुशोभित करने का उसी प्रकार प्रयत्न करता है, जिस प्रकार विषयी अपने को शरीर समझकर अनेक अलंकारों से शरीर को सुशोभित करने का प्रयत्न करता है। जैसे प्रत्येक अलंकार सर्वदा शरीर से भिन्न रहता है, वैसे ही प्रत्येक साधन जीवन से भिन्न रहता है। जो वस्तु जीवन से भिन्न रहती है, वह जीवन में परिवर्तन नहीं कर पाती, बल्कि जीवन का एक श्रृंगार मात्र रहती है। श्रृंगार की आवश्यकता उसको होती है जिसको अपनी सुन्दरता पर विश्वास नहीं होता। अतः जीवन को साधन बनाना अनिवार्य है।

जब तक जीवन साधन नहीं हो पाता, जब तक वियोग होने वाली वस्तुओं की आवश्यकता होती है क्योंकि स्वयं सुन्दर होने पर अलंकारों की आवश्यकता नहीं रहती। पूर्ण अपनत्व का भाव सर्वोत्तम सुन्दरता है जिसको देख प्रेम—पात्र स्वयं मोहित हो जाते है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !
आपका अभेदस्वरूप

.....

१०४

भक्तवर माता जी, अजमेर

१५—११—४२

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। मन बालक और शरीर वृद्ध, आपने भी क्या ड्रामा बनाया है। पुष्कर से अपना मूल्य अधिक बढ़ा लो, भाग्य पर शासन करो। आप उसकी ओर देखो, जो आपके बिना नहीं रह सकता। निरादर के जीवन का अन्त कर दो।

रोग की चिन्ता रोग से भी अधिक रोग है। अतः रोग की चिन्ता न करना परम औषधि है। रोग शरीर की वास्तविकता समझाने के लिए आता है। साधारण प्राणी शरीर की सुन्दरता में आसक्त होकर रोग से डरते हैं। वास्तव में रोग आरोग्य की अपेक्षा, जीवन की अधिक आवश्यक वस्तु है। क्योंकि आरोग्य से प्रमाद, तथा रोग से जागृति होती है। विचारशील को रोग से न डरकर उसका सदुपयोग करना चाहिए। सब महानुभावों को यथायोग्य।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१०५

मेरी निजस्वरूप भक्तवर, चम्बलतट, अबारी

१०—१—१९४२

आपने लिखा है कि दो चार लाइन पढ़ने से शान्ति मिल जाती है। यह शान्ति नहीं है बल्कि संकल्प–पूर्ति का रस है। यह रस वास्तव में विष से भी अधिक विष है, क्योंकि विष के सेवन करने से तो एक बार ही मरना होता है और संकल्पों की पूर्ति का रस लेने पर तो अनेक बार मरना होता है। संकल्पों की निवृत्ति करने से सच्ची शान्ति मिलेगी। शान्ति पत्र में कहाँ मिल सकती है ? जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हों उनको धर्मानुकूल पूरा कर डालो और नवीन संकल्प उत्पन्न न होने दो। ऐसा करते ही आप अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव करोगे। यह भली प्रकार समझ लो कि अपने लिए, अपने से भिन्न की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि भिन्नता से किसी प्रकार भी एकता नहीं हो सकती।

गहराई से देखिये कि जब आप अपने में शरीर–भाव धारण

करते हैं तब आपको उस धारण किये हुए स्वभाव के अनुरूप संसार की ओर ले जाने वाले अनेक संकल्प उत्पन्न होते है। यदि आप अपने में से उस स्वभाव को—जो मान करके धारण कर लिया है—निकाल डालें तो आनन्दघन भगवान् तुरन्त ही अपना लेंगे और फिर किसी प्रकार की कमी शेष न रहेगी।

जो प्राणी संसार की वस्तुओं से अपनी पूर्ति की इच्छा करते हैं, वे बेचारे सर्वदा दीन बने रहते हैं। और जो प्राणी किसी पथिक के मार्ग के गड्ढे की मिट्टी बन कर भी किसी की पूर्ति कर देते हैं वह इन्द्र से भी अधिक बड़ेपन का अनुभव करते हैं। क्योंकि इन्द्र बेचारा इन्द्रासन से अपनी पूर्ति का अनुभव करता है, अतः वह दीन है। दूसरे की पूर्ति करने वाले में लेश मात्र भी दीनता नहीं रहती बल्कि चाहे कितने ही छोटे रूप में क्यों न हो, ऐश्वर्य तथा माधुर्य ही रहता है। क्योंकि यदि ऐश्वर्य न हो तो पूर्ति नहीं कर सकता, कारण कि जिस अंश में बड़ापन होता है उस अंश में ही दूसरे की पूर्ति कर सकता है। और यदि माधुर्य न हो तो दूसरे को अपना नहीं सकता। अतः सेवक में ऐश्वर्य तथा माधुर्य आ जाते हैं—जो भगवान् का स्वरूप है। सेवक का जो स्वभाव है वह भगवान् का स्वरूप है, स्वभाव स्वरूप में विलीन हो जाता है। अतः छोटे से छोटा सेवक भी बड़ी सुगमतापूर्वक आनन्दघन भगवान् का अनुभव कर लेता है, और बड़े से बड़ा विषयी प्राणी सर्वदा आनन्दघन भगवान् से दूर रहता है। अपने लिए संसार की वस्तुओं की इच्छा करना यही बेचारे विषयी प्राणी का स्वभाव है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका "अभेदस्वरूप

.....

१०६

मेरे निज—स्वरूप,

.....

८—२—१९४३

कृपया शून्य से विमुख होकर अपने में ही सन्तुष्ट हो जाइये। शून्य दृश्य जगत का मूल कारण है। कार्य से अरुचि होने पर शून्य में स्थिति होना सुख अवश्य है किन्तु निजानन्द से विमुख कर देता है। शून्यता में प्रीति विषयों का वैराग्य सिद्ध करती है, जो किसी सीमा तक आदरणीय है, क्योंकि संसार शून्य से भिन्न कुछ नहीं। परन्तु हमारी स्वाभाविक अभिलाषा तो नित्य जीवन की है। नित्य जीवन

अपने स्वयं–प्रकाश, निज–स्वरूप में सन्तुष्ट होने पर ही अनुभव होता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१०७

श्रद्धेय ब्रह्मनिष्ठ..... नाथद्वारा

२४–८–४३

सर्वदा अचिन्त रहो। कृपा–पत्र मिला। विचारशील प्राणी अपनी दृष्टि से अपने को देखने का प्रयत्न करते हैं। संसार की दृष्टि में अच्छा तथा बुरा होना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। जो अपनी दृष्टि में अपने को सब प्रकार से आदर के योग्य पाता है वही पूर्णतया निर्दोष है।

जब अपनी दृष्टि से अपने में किसी प्रकार की कमी दिखाई देने लगती है तब हृदय में विचित्र व्याकुलता उत्पन्न होती है, जो उन्नति का मूल है। क्योंकि सच्ची व्याकुलता की अग्नि में सभी दोष जल जाते हैं, असत्य से असंग तथा सत्य से अभेद करने में व्याकुलता समर्थ है।

जब तक प्राणी अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की खोज करता है तब तक बेचारा अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की खोज वही करता है जो अपने को शरीर मानता है। यह नियम है कि जिससे हम अपने को मिला देते हैं उसमें प्रियता तथा आसक्ति स्वाभाविक हो जाती है। क्योंकि अपने आप से सभी को अत्यन्त एकता तथा प्रियता एवं प्रेम होता है।

शरीर में आसक्ति तथा प्रियता होते ही संसार की वस्तुओं की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वस्तु होकर ही वस्तुओं की आवश्यकता अनुभव करता है। यदि अपने में से वस्तु भाव निकाल दिया जाए तो फिर किसी भी वस्तु की आवश्यकता लेश मात्र भी शेष नहीं रहती।

जब हम अपने में से वस्तु–भाव निकाल देते हैं तब आनन्दघन,

स्वाभाविक निरन्तर हममें ही निवास करते हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१०८

मेरे निज—स्वरूप, ...

३१—४—१९४३

प्रत्येक परिस्थिति को जाता हुआ देखो आता हुआ नहीं। जाता हुआ देखने से सुख में आसक्ति और दुःख का भय नहीं होगा और नित्य की अभिलाषा सबल तथा जाग्रत हो जायगी। किसी दुःखमय परिस्थिति से हार स्वीकार न करो। परिस्थिति का सदुपयोग करने से परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं रहेगा। जब तक सम्बन्ध प्रतीत होता रहे समझ लो अभी परिस्थिति का सदुपयोग नहीं किया। प्रत्येक परिस्थिति औषधि के समान है क्योंकि अनित्य जीवन, रोग है। यदि परिस्थिति का यथोचित उपयोग कर लिया जाए तो अनित्य जीवन का रोग मिट जाएगा और नित्य जीवन प्राप्त होगा।

नित्य जीवन से निराश नहीं होना चाहिए न उसके लिए भविष्य की आशा करनी चाहिए।

भोगत्व भाव मिट जाने पर कर्तापन मिट जाएगा।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१०९

मेरी निज—स्वरूप भक्तवर माता जी, जोधपुर

२४—९—४३

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला।

रोग वास्तव में तप है, क्योंकि यदि रोग न हो तो इन्द्रियों के रस से विरक्ति नहीं हो सकती, और न शरीर का यथार्थ ज्ञान होता और न सेवा करने वालों को अवसर मिलता।

सेवा करने से हृदय पवित्र होता है। देखिये, रोग भगवान् की कृपा से रोगी का तथा और लोगों का कितना लाभ हुआ। सृष्टि का विधान न्यायपूर्ण है। अतः प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग करने पर

प्राणी की उन्नति अवश्य होती है। विचारशील को किसी भी परिस्थिति से डरना नहीं चाहिए, बल्कि उसके सदुपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

११०

पूज्या भक्तवर माता जी, उदयपुर—मेवाड़
२९—९—४३

पत्र के रूप में दर्शन मिला।

वियोग के भय से वही बच सकता है जो संयोग में ही पूर्ण वियोग का अनुभव कर लेता है। मृत्यु पर वही विजय प्राप्त करता है जो सर्व वासनाओं का अन्त कर नित्य जीवन का अनुभव कर लेता है।

रोग पर वही विजय प्राप्त कर सकता है जो शरीर से असंगता का अनुभव कर लेता है।

नित्य जीवन वही पाता है जिसको वियोग परम प्रिय है क्योंकि वियोग के द्वारा ही नित्य योग हो सकता है।

विचार दृष्टि से देखिये, वियोग संयोग की अपेक्षा सबल तथा स्वतंत्र है। जो सबल तथा स्वतंत्र है उसको अपना लेने पर ही शान्ति मिल सकती है। जिस प्रकार समुद्र का पानी भाप बन कर अनेक स्थानों पर फैल जाता है उसी प्रकार तत्त्व—वेत्ता तत्त्व—निष्ठ होकर सर्वत्र फैल जाता है।

तत्त्व—निष्ठ वहीं हो सकता है जो तीनों प्रकार (स्थूल—सूक्ष्म—कारण) के शरीरों से अपने को असंग कर लेता है। तत्व—वेत्ता का मन तथा प्राण मृत्यु होने पर गमन नहीं करता, क्योंकि वासना के बिना गमन नहीं हो सकता और वासना रहते हुए तत्व—वेत्ता नहीं हो सकता।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१११

मेरे निजस्वरूप, अजमेर

२९—१०—४३

जब प्राणी को अपनी वास्तविक आवश्यकता का ज्ञान हो जाता है तब जीवन में घोर व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह सारा संगठन, जिसको अपना सब कुछ देकर बनाया है निरर्थक हो जाता है। साधारण प्राणी इच्छाओं को आवश्यकता मान लेते हैं। इच्छाओं की उत्पत्ति तो, आवश्यकता के भूलने पर होती है। गहराई से देखिये, हम अपने में बड़ापन, तथा हमको प्यार मिले, यह देखना चाहते हैं। संसार के बड़े–से–बड़े प्राणी को भी प्यार एवं बड़ापन बुरा नहीं लगता क्योंकि यह उसकी वास्तविक आवश्यकता है।

प्यार कब मिलता है ? जब किसी के काम आ जाते हैं, क्योंकि जिसके काम आ जाते हैं वही प्यार करता है। बड़ापन कब मालूम होता है ? जब हमको अपने लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता नहीं होती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमको ऐसे जीवन की आवश्यकता है कि हमको अपने लिये अपने से भिन्न की आवश्यकता न हो तथा दूसरों के काम आवें। इस आवश्यकता के जाग्रत होने पर वस्तु, अवस्था आदि की इच्छाओं का अन्त हो जाता है।

जिस काल में आवश्यकता सभी इच्छाओं को खा लेती है उसी काल में आवश्यकता की पूर्ति की शक्ति अपने आप आने लगती है, अर्थात् ज्यों–ज्यों वर्तमान परिस्थिति तथा सभी वस्तु, अवस्था आदि से असंगता होती जाती है, अथवा यों कहो कि परिवर्तनशील जीवन नित्य जीवन में विलीन हो जाता है। आवश्यकता के प्रमाद ने हमको संगठन का दास बना दिया है। जीवन में दासत्व के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि जो हमारे बिना रह सकता है, हम भी उसके बिना रह सकते हैं। हमको उसी की आवश्यकता है, जिसको हमारी है। हम इसलिए दुःखी हैं कि हम उसकी ओर देखते हैं जो हमारी ओर नहीं देखता। हमारे इस दुःख का अन्त हमारी आवश्यकता जाग्रत होने पर बड़ी सुगमतापूर्वक हो सकता है।

जिस प्रकार लकड़ी अग्नि को जलाकर अपने आप शान्त हो

जाती है, उसी प्रकार व्याकुलता सभी निर्बलताओं को जलाकर अपने आप शान्त हो जाती है।

जबसे हमने परिवर्तनशील संगठन को अपना बनाया है, तबसे हम अपरिवर्तनशील आनन्दघन प्रेम–पात्र से दूर हो गये हैं। यद्यपि हमारी और उनकी दूरी केवल न जानने की है, देश–काल की नहीं। न जानने की दूरी जिज्ञासा जाग्रत होने पर मिट जाती है। जब हम सब प्रकार से उनके हो जाते हैं तब वह हमें अपना लेते हैं। हम उनसे इसलिए दूर हैं कि हम उनसे विमुख होकर संगठन की ओर देखते हैं। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि वह तो हमारी ओर देखते हैं और हम संगठन की ओर। जब हम उनकी ओर देखेंगे तब दूरी का अन्त हो जाएगा। हमको बस यही करना है कि एक बार उनकी ओर देखें।

उनकी ओर तब देख सकते हैं जब उनके हो जाएं। उनके तब हो सकते हैं जब किसी और के न रहें। हमारे और उनके बीच में जो भिन्नता के भाव उत्पन्न हो गये हैं, उनका अन्त करना अनिवार्य है। यदि हम पतित हैं तो वे पतित–पावन हैं, यदि हम असमर्थ हैं तो वे समर्थ हैं। पतित और पतित पावन का ही मिलन हो सकता है। देखिये, औषधि और रोग मिलकर ही एक होते हैं। जिस प्रकार रोग और औषधि मिलने पर भिन्न–भिन्न नहीं रहते बल्कि एक अलौकिक आरोग्य, जो वास्तव में न रोग है और न औषधि, के रूप में एक हो जाते हैं, दो भिन्न–भिन्न नहीं रहते, उसी प्रकार असमर्थ और समर्थ, पतित और पतित–पावन मिलकर असीम, अनन्त और नित्य निर्विकार हो जाते है। यह भी एक प्रकार का संकेत है। वास्तव में तो जो हो जाता है कहने में नहीं आता। कथन–गुण और दोष का ही हो सकता है। जब तक हमको अपने दोष दीखते हैं तब तक उनमें गुण दीखते हैं, जब हम उनके हो जाते हैं, तब उनके गुण हमारे दोषों को खा लेते हैं। उनमें अनन्त गुण हैं, यद्यपि वे सर्व गुणों से अतीत भी हैं।

भला जिनमें अनन्त गुण हों और सर्व गुणों से अतीत भी हों, उनका कथन कैसे हो सकता है, प्राणी उनका कथन नहीं कर सकता, उनसे अभेद अवश्य हो सकता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

११२

मेरे निजस्वरूप,

प्रयाग

२८—१—४४

पत्र के रूप में दर्शन मिला। आज भगवान् प्रयाग से काशी ले जा रहे हैं। पूर्व वर्ष आपके द्वारा ही भगवान् ने काशी से विदा किया था। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग सर्वोत्कृष्ट साधन है। भक्तों की प्रत्येक प्रवृत्ति किसी—न—किसी पूर्ति का साधन होती है, अर्थात उनकी अपनी पूर्ति के लिए किसी भी प्रवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती। प्रवृत्ति की सुन्दरता इसी में है कि किसी के काम आ जाय। अकेला होना बड़ा ही उत्तम है, परन्तु शरीर से अकेला होना, अकेला होना नहीं है। जब प्राणी माने हुए सम्बन्धों से तथा स्वीकृतिजन्य सत्ता से अपने को अतीत कर लेता है, तब अकेला हो पाता है। अकेला होने पर निर्वासना (desirelessness) अपने आप आ जाती है, निर्वासना आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि अलौकिक दिव्य गुण उत्पन्न हो जाते हैं। जब प्राणी उन गुणों का उपभोग नहीं करता तब प्रेम पात्र से अभेद हो नित्य जीवन का अनुभव कर कृत—कृत्य हो जाता है, और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

११३

मेरे निजस्वरूप,

पुष्कर

११—११—१९४३

निर्भयता, निश्चिन्तता आने पर ही आराम मिल सकता है। जब प्राणी अपने आपको अनन्त शक्ति के समर्पण कर देता है, तब सब प्रकार से अचिन्त हो जाता है। जो प्राणी अपनी सीमित मिली हुई शक्तियों का भरोसा करता है तो वह बेचारा अभय नहीं हो पाता । अपनत्व के बल पर ही उनको खरीद सकते हो, और किसी प्रकार नहीं। क्योंकि जो सब प्रकार से उनका हो जाता है उसे अपनाने के लिए वह विवश हो जाते हैं, जिस प्रकार शिशु अपनत्व के बल पर ही, अयोग्य होते हुए भी, पिता की सम्पत्ति का मालिक हो जाता है। इस बात का केवल इतना ही अर्थ है कि अपनत्व का बल गुणों के बल से

विशेष बल है। भला जिसमें अनन्त गुण हों उसे सीमित गुणों से कैसे पा सकते हैं ? कदापि नहीं !

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

११४

मेरे निजस्वरूप, ...

१५—१२—१९४३

सर्व अवस्थाओं से अतीत होने पर ही सतत जाग्रति हो सकती है, और सतत जाग्रति होने पर ही अमरत्व का अनुभव हो सकता है। अमरत्व का अनुभव होने पर ही प्रेम—पात्र के वियोग का भय मिट सकता है। वियोग का भय मिटने पर ही सर्वोत्कृष्ट नित्य जीवन का अनुभव हो सकता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

११५

मेरे निजस्वरूप, बनारस

९—२—१९४४

सभी संस्कार अहंता में अंकित रहते हैं, परन्तु अहंता परिवर्तित होने पर पूर्व संस्कार भुने हुए बीज के समान निर्जीव हो जाते हैं। अर्थात् उसमें उपजने की शक्ति नहीं रहती। अतः पूर्व संस्कारों को निर्जीव करने के लिए अहन्ता परिवर्तन परम अनिवार्य है। यह अखण्ड सत्य है कि अहंता के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। अतएव पवित्र अहंता होने पर पवित्र प्रवृत्ति होगी और अपवित्र अहंता होने पर अपवित्र प्रवृत्ति होगी। जो विचारशील सद्भाव पूर्वक यह स्वीकार कर लेता है कि मैं भक्त हूँ अर्थात् भगवान् का हूँ ,उसमें भक्ति अपने आप आ जाती है, क्योंकि यह भक्ति का स्वभाव है।

भक्त होते ही जीवन दो भागों में विभाजित हो जाता है—एक तो भक्त का निज का जीवन और एक भगवान् के नाते विश्व—सेवा। उन दोनों प्रकार के जीवन में अन्तर केवल इतना होता है कि एक तो एक्टिंग के भाव से करता है ओर एक जीवन बुद्धि से। भक्त का जीवन

भगवान् के पवित्र प्रेम की प्रतीक्षा तथा प्रेमपात्र के प्रेम का आस्वादन अर्थात् प्रेमपात्र के प्रेम से छक कर पूर्ण हो जाना ही है। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पति के नाते सभी सम्बन्धियों की सेवा करते हुए अपने लिए केवल पति का प्रेम ही स्वीकार करती है उसी प्रकार भक्त भगवान् के नाते एक्टिंग के रूप में विश्व सेवा करते हुए अपने लिए केवल प्रेमपात्र के प्रेम को स्वीकार करता है। क्योंकि प्रेमपात्र का प्रेम ही प्रेमी का जीवन है।

ज्यों–ज्यों निर्वासना दृढ़ होती जाती है त्यों–त्यों निर्भयता बढ़ती जाती है, क्योंकि भय का मूल कारण वासना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

११६

श्रद्धेय भक्तवर माता जी, दारानगर, बनारस
१८–२–१९४४

कल बलिया से आ गया। माँ, भक्त का हृदय समुद्र के समान होता है। जिस प्रकार समुद्र में नदियों के आ जाने से कोई हर्ष नहीं होता, प्रत्युत वह आई हुई नदियों को प्रसन्नतापूर्वक अपना लेता है अर्थात् उनके काम आ जाता है।

माँ का हृदय स्वार्थ–रहित होता है। जिस प्रकार माता यशोदा ने वात्सल्य रस का आस्वादन करने के लिए बाल स्वरूप भगवान् की पवित्रता पूर्वक सेवा की थी उसी प्रकार प्रत्येक माँ को करना चाहिए। परन्तु बालक में आसक्ति लेशमात्र भी नहीं होनी चाहिए। हृदय में यही भाव रहे कि हमारी इच्छा की पूर्ति के लिए आनन्दघन भगवान् बालक के स्वरूप में प्रकट हुए हैं। इस भाव से की हुई बालक की सेवा भगवत्–पूजा हो जायगी।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

११७

मेरे निज—स्वरूप, दारानगर, काशी
२३—२—१९४४

मन बेचारा जिसकी खोज में की है उसको जब तक नहीं प्राप्त करेगा तब तक कुछ न कुछ करता ही रहेगा। मन को रस की (नित्य रस) आवश्यकता है, परन्तु अनित्य रस ने उसकी आवश्यकता को निर्बल बना दिया है। अतः सबसे प्रथम उसको उसकी आवश्यकता का ज्ञान करा दो। मन की प्रत्येक प्रवृत्ति हमारी स्वीकृति के अनुरूप होती है। यदि प्राणी अपनी स्वीकृति का परिवर्तन कर ले तो मन की प्रवृत्ति अपने आप बदल जाती है अर्थात् जैसी अहंता होती है वैसी ही मन की प्रवृत्ति होती है। अतः जो प्राणी अपने को भक्त स्वीकार कर लेता है उसका मन अपने आप भगवान् की ओर चला जाता है। जो अपने को जिज्ञासु मानते हैं उनका मन अपने आप विचार की ओर चला जाता है। और जो विचारशील अपने में से मानी हुई सत्ता निकाल देते हैं उनका मन अमन होकर अपने आनन्दघन, नित्य, निर्विकार, तत्त्व से अभेद हो जाता है। अतः जैसी मन की प्रवृत्ति करनी हो वैसी ही अहंता कर डालो। यदि, प्रवृत्ति का अभाव करना हो तो मानी हुई अहंता का अभाव कर डालो ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

११८

मेरे निज—स्वरूप भक्तवर, मुजफ्फरपुर
१०—४—१९४४

अकस्मात पत्र के रूप में उपस्थित होने का भाव उत्पन्न हुआ। अतः इसी कारण लिखा जा रहा है।

प्यारे, प्रवृत्ति का सौन्दर्य यही है कि किसी के काम आ जायें। और निवृत्ति का सौन्दर्य यही है कि अपने में ही अपने प्रेमपात्र का अनुभव हो जावे। जो प्रवृत्ति किसी के हित का साधन नहीं होती वह त्याग करने योग्य है ओर जो निवृत्ति प्रेमपात्र से अभेद नहीं करती वह निर्जीव है। निर्जीव निवृत्ति निरर्थक होती है।

वृत्तियों का स्फुरण न होना निवृत्ति है। सर्वहितकारी वृत्तियों का स्फुरण होना प्रवृत्ति है। निवृत्ति से निज–स्वरूप का ज्ञान होता है और प्रवृत्ति से संसार का यथार्थ ज्ञान होता है। संसार का यथार्थ ज्ञान होने पर संसार से निवृत्ति और प्रेम–पात्र का यथार्थ ज्ञान होने पर प्रेम–पात्र से एकता अपने आप हो जाती है। क्योंकि यह नियम है कि प्रतिकूल ज्ञान से निवृत्ति और अनुकूल ज्ञान से एकता स्वाभाविक होती है।

प्यारे, प्रवृत्ति और निवृत्ति दाएँ बाएँ पैर के समान हैं, प्रेम–पात्र तक पहुँचने के लिए साधन मात्र हैं। अर्थात् प्रवृत्ति तथा निवृत्ति जीवन यात्रा के दो अंग हैं। प्रवृत्ति द्वारा राग को जानकर राग की निवृत्ति करना और निवृत्ति द्वारा सीमित अहं–भाव (Limited personality) को मिटा कर प्रेम–पात्र से अभेद हो जाना है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

११६

मेरे निज स्वरूप,

बलरामपुर
१४–४–१९४४

पत्र के रूप में दर्शन मिला ।

जब प्राणी की आन्तरिक इच्छा–शक्ति निर्बल हो जाती है तो वाह्य परिस्थिति विघ्न करती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में तो सभी को वैराग्य रहता है परन्तु अनुकूल परिस्थितियों में किसी विचारशील ही को वैराग्य रहता है। अपनी कमी को देखने का प्रयत्न करते रहें। क्योंकि कमी को देखते ही व्याकुलता उत्पन्न होगी। व्याकुलता सभी निर्बलताओं को खा लेती है। ज्यों–ज्यों व्याकुलता बढ़ती है त्यों–त्यों निर्बलताएँ अच्छाई में बदलती जाती है। व्याकुलता के बिना जीवन निर्जीव यन्त्र के समान बेकार है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१२०

मेरे निज—स्वरूप, बलरामपुर

१८—४—१९४४

प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रत्येक प्राणी वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर उन्नति अवश्य कर सकता है, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है।

स्वतन्त्र, नित्य, सत्ता कल्पतरु के समान है, प्रत्येक प्राणी उसी की छाया में निवास करता है, नित्य सत्ता प्राणी की रुचि के अनुसार विकास कर सीमित विकास से ऊपर उठने के लिए ह्रास भी करती है अर्थात् सीमित विकास का ह्रास अनिवार्य है। इस युनिवर्सल लॉ (विश्वजनीन कानून) को जो प्राणी समझ लेता है वह सीमित विकास की रुचि को मिटाने के लिए एवं स्वतन्त्र सत्ता से अभेद होने के लिए उसी प्रकार विकल हो जाता है जिस प्रकार मछली जल के लिए।

अपनी परतन्त्रता का ज्ञान होने पर प्राणी के हृदय में व्याकुलतापूर्वक स्वतन्त्रता की आवश्यकता जाग्रत होती है। बेचारी परतन्त्रता उसी समय तक जीवित रहती है जब तक प्राणी स्वतंत्रता को अपना जीवन नहीं मानता।

भोग के लिए प्राणी परतन्त्र अवश्य है किन्तु नित्य जीवन, नित्य रस एवं पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र सत्ता प्राणी को अपनाने के लिए निरन्तर सीमित विकास रूपी परतन्त्रता को छिन्न भिन्न करती रहती है। मानो यह पाठ पढ़ाती है कि सीमित विकास में अपने को आबद्ध मत करो।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने का साधन परतन्त्रता नहीं है, प्रत्युत स्वतन्त्रता ही है। सभी निर्बलताएँ उसी काल तक जीवित हैं जब तक प्राणी अपने से भिन्न की खोज करता रहता है।

जो आपके बिना नहीं रह सकता; जब आप अपने को उनकी ओर से, जो आपके बिना रह सकते हैं, विमुख कर लेंगे तब जो आपका है वह अपने आप आपको अपना लेगा। अर्थात् आपको अपने प्रेम पात्र का ज्ञान हो जाएगा। प्यारे, आप उनकी ओर देखते हैं जो आपके नहीं हैं। अतः आप अपने प्रेम पात्र को नहीं जान पाते। आप सच मानिये कि आपका प्रेम—पात्र निरन्तर आपकी प्रतीक्षा कर रहा है। आप उसकी

ओर नहीं देखते । इसलिए आप उसको नहीं जानते। गहराई से देखिए। सूर्य की ओर मुँह करने पर सूर्य का ज्ञान हो जाता है और छाया पीछे–पीछे दौड़ती है। परन्तु सूर्य से विमुख होने पर छाया आगे दौड़ती है और सूर्य का भी ज्ञान नहीं होता। उसी प्रकार जब प्राणी परिवर्तनशील संसार की ओर देखता है जो सत्य की छाया मात्र है जब संसार उससे आगे ही दौड़ता रहता है। परन्तु जब प्राणी संसार से विमुख होकर सत्य की ओर देखता है तब संसार उसके पीछे दौड़ता है और सत्य से अभेदता भी रहती है।

"सबहिं नचावत राम गोसाई" यह उस भक्त के हृदय की पुकार है कि जिसका अहं भाव मिट गया हो। देखिये सूर्य के बिना कोई आँख नहीं देखती किन्तु देखने का भाव तथा रूप की आसक्ति आँख में होती है, सूर्य में नहीं। उसी प्रकार नाचने का रस तथा नाचने का भाव प्राणी में होता है, राम में नहीं। अर्थात् सत्य असत्य को सत्ता देता है, और कुछ नहीं करता। सत्य की आवश्यकता असत्य को खा लेती है और सत्य से अभेद कर देती है। प्राणी असत्य का उपयोग करने में तथा उसको सुरक्षित रखने में परतन्त्र और सत्य की आवश्यकता जाग्रत होने पर सत्य से अभेद होने में सर्वदा स्वतन्त्र है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१२१

मेरे निजस्वरूप, मुरादाबाद

३—५—१९४४

अहन्ता परिवर्तित होने पर प्रवृत्ति–परिवर्तन हो जाता है क्योंकि सभी प्रवृत्तियों का जन्म अहंभाव के अनुसार ही होता है। अतः भक्त में भक्ति तथा जिज्ञासु में विचार एवं विषयी में कर्म अपने आप उत्पन्न होते हैं। कर्म से वासनाओं की पूर्ति और विचार से वासनाओं की निवृत्ति एवं भक्ति से आनन्द की उत्पत्ति अपने आप होती है।

प्यारे ! जीवन में सबसे काला समय वही है कि जब प्राणी उसकी ओर देखता है, जो उसकी ओर नहीं देखता। अर्थात् प्रवृत्ति वही सार्थक है जो किसी न किसी की पूर्ति का साधन होती है। अपनी

पूर्ति के भाव से की हुई प्रवृत्ति बन्धन का कारण बन जाती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१२२

मेरे निजस्वरूप परमप्रिय, हरिद्वार

१६—५—१९४४

संसार का होकर ईश्वर–चिन्तन भी संसार को ही प्राप्त कराता है और ईश्वर का होकर संसार का प्रत्येक कार्य ईश्वर से मिलाता है। अतः विचारशील प्राणी ईश्वर का होकर अपने आप आये हुए सभी आवश्यक कार्यों को अभिनय के स्वरूप में करता हुआ सुगमता पूर्वक ईश्वर को पा लेता है अतः सद्भाव पूर्वक आनन्दघन भगवान् से सम्बन्ध करना परम अनिवार्य है। सम्बन्ध होते ही विरह अपने आप उत्पन्न होता है। अर्थात् सम्बन्ध करना पड़ता है और विरह उत्पन्न होता है। जो करना पड़ता है उसका करना ही कर्तव्य है। कर्त्तव्य पालन करते ही अधिकार अपने आप प्राप्त होता है। क्योंकि अधिकार कर्त्तव्य का दास है। विचारशील अधिकार मांगते नहीं कर्त्तव्य पालन करते हैं। और साधारण प्राणी अधिकार मांगते हैं–कर्त्तव्य की ओर ध्यान नहीं देते। कर्त्तव्य पालन के बिना मिला हुआ अधिकार छिन जाता है। ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१२३

मेरी निजस्वरूप पूज्या माँ, सप्त सरोवर, हरिद्वार

१७—५—१९४४

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। सच्चाई का मार्ग सिखाया नहीं जाता उत्पन्न होता है। प्रत्येक प्राणी में किसी न किसी प्रकार की गति होती ही रहती है अर्थात् कुछ–न–कुछ करता ही रहता है परन्तु जब प्राणी अपनी ओर से कुछ नहीं करता अर्थात् किसी भी कार्य का आरम्भ नहीं होने देता तब कुछ न करने से सच्चे कर्त्तव्य का जन्म होता है। करना (instinct) है, क्रिया जीवन है। क्रिया–जन्य रस में आसक्ति होती है।

ज्यों–ज्यों क्रिया–जन्य आसक्ति का रस मिटता जाता है त्यों–त्यों इन्द्रियातीत अचिन्त्य आनन्दघन भगवान् से दूरी मिटती जाती है। करने के रस ने प्राणी को नित्य योग से विमुख कर अस्वाभाविक परिवर्तनशील भोग में लगा दिया है। अतः विचारशील प्राणी को भोग से अपना मूल्य अधिक बढ़ा लेना चाहिए। ज्यों–ज्यों प्राणी भोग से अपना मूल्य बढ़ाता है त्यों–त्यों भोग अपने आप अपनी सार्थकता के लिए प्राणी के समीप आने लगते हैं। प्राणी सबसे बड़ी भूल यही करता है कि भोग से अपना मूल्य घटा कर भोगों की ओर दौड़ता है। जिसका मन हिमालय की भाँति अचल हो जाता है उसी मन से आनन्द की गंगा निकलती है।

माँ ! आगे–पीछे का सोचना बिल्कुल बन्द कर दो। अपने आप आये हुए कार्य को न्याय तथा नियम पूर्वक अभिनय के स्वरूप में प्रेमपात्र के नाते पूरा कर डालो। जब प्रत्येक प्रवृत्ति लीलावत् होने लगेगी तब प्रवृत्ति के अन्त में मन अपने आप हिमालय की भांति अचल हो जायगा।

माँ ! मन को एक समय में एक ही काम में लगाना तथा सभी कामों से हटा लेना, मन को अचल अचिन्त करने का सबसे सरल उपाय है। अपने ऊपर केवल यही उत्तरदायित्व है कि अपने आप आये हुए काम को न्याय पूर्वक पूरा करना तथा मन में किसी भी काम को जमा न रखना–जिस प्रकार अथाह जल में नाव डूबती नहीं उसी प्रकार काम से ऊपर रहने वाला प्राणी संसार सागर में डूबता नहीं। नाव वही डूबती है जिसके भीतर पानी भर जाता है। मन वही डूबता है जिस मन में काम भर जाता है। अतः मन में से भरे हुए काम को निकाल दो। माँ ! काम करने से प्राणी ईश्वर से विमुख नहीं होता । जो प्राणी काम को मन में जमा रखता है वही ईश्वर से दूर हो जाता है। अतः किसी भी काम को मन में जमा न रखना ईश्वर प्राप्ति का सबसे सुगम उपाय है। प्राणी का मन नित्य रस, नित्य जीवन चाहता है। उसके न मिलने से मन में अभाव सा भास होता है। प्रसन्नता इसलिए नहीं आती कि प्रतिदिन मन अपने बनाये हुए गोल चक्र में तेली के बैल की भाँति घूमता है। नित्य नवीनता नहीं मिलती। माँ ! विचारशील प्राणी को अपने को किसी भी परिस्थिति में आबद्ध नहीं करना चाहिए, क्योंकि सच्चाई सभी अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से

अतीत है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१२४

मान्यवर, मोहन आश्रम, हरिद्वार
१९—५—१९४४

वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग उन्नति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। क्योंकि वर्तमान के सँभल जाने से बिगड़ा हुआ भूत और आने वाला भविष्य अपने आप सभँल जाते हैं। और वर्तमान के बिगड़ जाने से बना हुआ भूत और आने वाला भविष्य अपने आप बिगड़ जाते हैं। अतः विचारशील को गम्भीरता पूर्वक सावधानी के साथ वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१२५

भक्तवर, हरिद्वार
२४—५—४४

वर्तमान जीवन का यथार्थ अध्ययन करने पर यही मालूम होता है कि वर्तमान जीवन, जीवन नहीं है प्रत्युत जीवन का साधन है। अतः वर्तमान जीवन में जीवन बुद्धि का त्याग परम अनिवार्य है—जीवन—बुद्धि का त्याग करते ही वर्तमान जीवन की आसक्ति मिट जायगी। आसक्ति मिटते ही प्राणी उसी प्रकार स्वस्थ हो जाता है जिस प्रकार भूख लगने पर भोजन का अधिकारी हो जाता है—अर्थात् स्वस्थता का वास्तविक अर्थ यही है कि प्राणी की सच्ची भूख जाग्रत हो जाय। यह नियम है कि भूख लगने पर भोजन में प्रवृत्ति अपने आप हो जाती है। आसक्ति के रोग से आनन्द एवं नित्य जीवन की भूख कम हो गई है। विचाररूपी औषधि से आसक्ति का रोग मिटाना है। रोग मिटते ही भूख जाग्रत होगी और भूख लगते ही सर्वशक्तिमान् आनन्दघन भगवान् तृप्त कर देंगे ।

प्यारे, रोग रोगी की बनाई हुई वस्तु है तथा आरोग्य स्वाभाविक

है। गहराई से देखिये, सभी रोग संयोग से उत्पन्न होते हैं। संयोग प्राणी अपनी रुचि के अनुसार करता है, किन्तु वियोग स्वाभाविक हो जाता है। संयोग की आसक्ति के कारण वियोग से डरता है। वास्तव में सच तो यह है कि अपने आप आया हुआ वियोग नित्य योग, नित्य जीवन, नित्य रस प्रदान करने में सर्वदा समर्थ है।अतः वियोग का अपना लेना परम अनिवार्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१२६

मोहन आश्रम, हरिद्वार
२६—५—१९४४

हठयोग तथा राजयोग में केवल यही अन्तर है कि हठयोग प्रथम प्राण का निरोध करने का प्रयत्न करता है तथा राजयोग प्रथम मन के निरोध करने का प्रयत्न करता है। मन के निरोध से प्राण का निरोध अपने आप हो जाता है, और प्राण के निरोध से मन दब जाता है। अतः विचारशील प्राणी प्राण—निरोध की अपेक्षा मन--निरोध पर अधिक ध्यान देते हैं। मन का निरोध प्रेम—पात्र के नाते वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने से तथा वासनाओं के त्याग से और आगे--पीछे का व्यर्थ चिन्तन न करने से एवं एक काल में एक ही कार्य करने से, कार्य करते समय पूरी शक्ति लगा देने से और कार्य के अन्त में कार्य से सम्बन्ध—विच्छेद कर देने से अपने आप हो जाता है। मन का निरोध होने पर छिपी हुई शक्तियों का विकास होने लगता है।

माँ ! यदि प्राणी प्रथम साधन अर्थात् जिसको उसने आरम्भ किया है, उस कार्य को यदि ठीक—ठीक कर लेता है तो उससे आगे आने वाला साधन अपने आप उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार जन्म मृत्यु में बदलता है, उसी प्रकार प्रत्येक साधन आगामी साधन में अपने आप बदल जाता है, अर्थात् जब साधक अपनी योग्यता के अनुसार किसी भी साधन को आरम्भ कर देता है तो आवश्यक साधन तथा शक्तियाँ अपने आप प्रकट होने लगती हैं।

आध्यात्मिक उन्नति भौतिक उन्नति में यही अन्तर है कि आध्यात्मिक उन्नति का साधक योग्यतानुसार साधन आरम्भ करते ही

स्वतन्त्रता पूर्वक सफलता प्राप्त करता है क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति निज की सम्पत्ति है। भौतिक उन्नति का साधक प्रत्येक स्टेज (stage) पर कुछ–न–कुछ वाह्य सहायता एवं परतन्त्रता का अनुभव करता है। इसी कारण भौतिक उन्नति में सदैव परतन्त्रता बनी रहती है, क्योंकि उसका जन्म परतन्त्रता से ही होता है।

माँ ! सच बात तो यह है कि आध्यात्मिक उन्नति, प्राणी सर्वदा स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकता है क्योंकि स्वतन्त्रता का साधन परतन्त्रता कदापि नहीं हो सकता। अतः आप अपनी योग्यता के अनुसार अपने मन इन्द्रिय आदि को सब ओर से हटा लो। सब ओर से हटाने पर आपको अपने ही में अपने प्रेमपात्र का अनुभव होगा। माँ ! संसार से सच्ची निराशा एवं अपने को सब ओर से हटा लेना आध्यात्मिक उन्नति का सर्वोत्कृष्ट सुगम साधन है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१२७

मेरे निजस्वरूप, हिसार

१७–७–४४

पत्र के रूप में दर्शन मिला। संसार नाट्यशाला है। इसमें प्रेम–पात्र की ओर से जो पार्ट मिला है, नियमानुसार पूरा करो, परन्तु अभिनय में जीवन–बुद्धि मत रखो। अभिनय की प्रत्येक प्रवृत्ति समान अर्थ रखती है। क्रिया–भेद होने पर भी प्रीति–भेद नहीं होता है। एक ही भाव से की हुई प्रवृत्तियाँ एक ही अर्थ रखती हैं, अर्थात् क्रिया–भेद होने पर भी लक्ष्य भेद नहीं होता, परन्तु जब प्राणी संसार–रूप अभिनय में जीवन–बुद्धि कर लेता है, तब भिन्न–भिन्न प्रवृत्तियाँ भिन्न–भिन्न अर्थ रखती हैं और अनुकूल प्रवृत्तियों से राग तथा प्रतिकूल प्रवृत्तियों से द्वेष होने लगता है। इतना ही नहीं, प्रवृत्तियों का रस कर्ता पर शासन करने लगता है। यह नियम है कि जिन प्रवृत्तियों में क्रिया–जन्य रस आने लगता है, उन प्रवृत्तियों की वासना पुनः उत्पन्न होने लगती है। वासनाओं के जाल में फँसा हुआ प्राणी भूत–भविष्य की सत्ता स्वीकार करता है, किन्तु जो सच्चा आस्तिक है, वह भगवान् का होकर धर्मानुसार उपस्थित प्रत्येक प्रवृत्ति को अभिनय

के रूप में प्रीतिपूर्वक पूरी शक्ति लगाकर करता है और प्रवृत्ति के अन्त में व्याकुलता पूर्वक प्रेम–पात्र की कृपा की वाट देखने लगता है। ज्यों–ज्यों प्रेम–पात्र की प्रतीक्षा प्रबल होती जाती है, त्यों–त्यों प्रेम–पात्र की कृपा का अनुभव स्वतः होता है। भक्त के हृदय में प्रेम–पात्र के प्रेम के मिलने की पीड़ा सदैव बनी रहती है। भक्त के शरीर, मन, इन्द्रिय आदि यन्त्रवत् प्रेम–पात्र के नाते विश्व की सेवा करते रहते हैं, किन्तु प्रत्येक सेवा प्रेम–पात्र की प्रसन्नतार्थ ही करते हैं। सेवक अन्य रस का आस्वादन नहीं करता, क्योंकि अन्य प्रवृत्ति का आस्वादन करने पर वह उस प्रवृत्ति में फँस जाता है। जिस प्रकार व्यापारी व्यापार करते हुए धन की वासना उत्तरोत्तर बढ़ाता ही जाता है, उसी प्रकार अभिनय के रूप में सेवा करते हुए भक्त के हृदय में भगवान की आवश्यकता उत्तरोत्तर प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। प्रेम–पात्र की आवश्यकता प्रेम–भाव से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि प्रेम–पात्र (सत्य) असत्य (जगत्) को प्रकाशित करता है, और सत्य प्रेम–पात्र की आवश्यकता असत्य जगत् को खाकर प्रेम–पात्र सत्य से अभेद कर देती है। मन आदि सभी यन्त्र विश्व–सेवा के लिए मिले हैं। जब सेवा का पाठ पूरा हो जाता है, तब निर्वासना स्वतः आ जाती है। निर्वासना आते ही प्रेमी अपने में ही प्रीतम को पाता है। जिस प्रकार सर्प का विष नष्ट हो जाने पर सर्प के काटने का भय शेष नहीं रहता, उसी प्रकार निर्वासना आ जाने पर मन–इन्द्रियों के व्यापार से किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं होता अथवा यों कहो कि निर्वासना आ जाने पर भूत–भविष्य की सत्ता नहीं रहती और वर्तमान से सम्बन्ध नहीं रहता। प्यारे, वर्तमान परिस्थिति का सम्बन्ध तथा उसका सद्भाव वर्तमान परिस्थिति का उपभोग उत्पन्न करता है। जिस प्रवृत्ति का प्राणी उपभोग करने लगता है, उस प्रवृत्ति की वासना बन जाती है। अतः प्रत्येक प्रवृत्ति उपासना के भाव से की जाए, अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति को प्रेम–पात्र का पूजन बना लो। यह बात मन में से बिलकुल निकाल दो कि केवल ध्यान आदि की प्रवृत्ति तो प्रेम–पात्र की प्राप्ति का साधन है, और अन्य धर्मानुसार प्रवृत्तियाँ प्रेम–पात्र की प्राप्ति का साधन नहीं है। सच बात तो यह है कि प्रेम–पात्र का होकर प्रत्येक धर्मानुसार प्रवृत्ति अभिनय के स्वरूप में करने पर प्रेम–पात्र की प्राप्ति का साधन हो जाती है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग के साथ

भिन्न–भिन्न प्रकार की चेष्टा शरीर की प्रसन्नता के लिए ही होती है, उसी प्रकार प्रेम–पात्र की ओर से मिली हुई प्रत्येक प्रवृत्ति प्रेम–पात्र की प्राप्ति तथा उसकी प्रसन्नतार्थ ही होती है। प्यारे, संसार का होकर स्मरण, चिन्तन, ध्यान भी प्रेम–पात्र से प्रेमी को मिलाने में असमर्थ हैं, क्योंकि सभी प्रवृत्तियाँ अहंता की रुचि की पूर्ति करती हैं, अर्थात् संसार का होकर ध्यानादि भी प्रेम–पात्र से मिलाने में असमर्थ हैं और प्रेम–पात्र का होकर धर्मानुसार अभिनय के स्वरूप में की हुई प्रत्येक प्रवृत्ति प्रेम–पात्र से मिलाने में समर्थ है। अतः प्रेम–पात्र के होकर वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करना प्रेम–पात्र से अभेद होने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। प्रत्येक प्रवृत्ति में अपने को पूरा लगा दो, अर्थात् बचाओ मत। पूरा जग जाने पर पूरा हट जाना अपने आप होगा। प्रीति की कमी से नींद आती है। यह नियम है कि जब प्राणी जो करता है, उसमें अपने को पूरा लगा देता है, तब उसको की हुई प्रवृत्ति का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। प्रवृत्ति का यथार्थ ज्ञान निवृत्ति उत्पन्न कर देता है। अतः जिन प्रवृत्तियों का त्याग नहीं हो सकता, उनको पूरी शक्ति लगाकर पवित्रतापूर्वक कर डालो। ऐसा करने से सारा जीवन साधन हो जायेगा, अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति प्रेम–पात्र का पूजन होगी। हम सब, बड़ी भूल यही करते हैं कि हम प्रवृत्तियों का विभाग कर देते हैं। हमको जो कुछ मिला है, वह केवल प्रेम–पात्र की प्राप्ति के लिए मिला है। मिली हुई वस्तुओं का दुरूपयोग प्रेम–पात्र से मिलने नहीं देता। अतः हमको केवल दुरुपयोग से विरोध है, प्रवृत्तियों से नहीं। प्रवृत्तियॉ बेचारी तो बिना ही प्रयत्न अपने आप निवृत्ति में विलीन हो जाती हैं। स्वतः आई हुई निवृत्ति पूजन करने योग्य है। हठ पूर्वक, अभिमानपूर्वक की हुई निवृत्ति प्रवृत्ति की भूल है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१२८

मेरे निजस्वरूप, मोहन आश्रम, हरिद्वार
९–६–१९४४

प्राणी के जीवन में क्रिया–शक्ति, भाव–शक्ति तथा ज्ञान–शक्ति विद्यमान है। जब प्राणी प्रत्येक क्रिया को एक ही भाव में विलीन करता

है, तब पवित्रतापूर्वक की हुई प्रवृत्ति स्वतः निवृत्ति में बदल जाती है। ऐसी अवस्था में क्रिया–शक्ति भाव–शक्ति में परिवर्तित हो जाती है। भाव–शक्ति के जाग्रत होते ही विरह–अग्नि उत्पन्न होती है। ज्यों–ज्यों विरहाग्नि बढ़ती जाती है, त्यों–त्यों प्रेम–पात्र से दूरी मिटती जाती है, अर्थात् सभी विकार विरहाग्नि से भस्मीभूत होते जाते हैं। विकार मिटते ही भाव–शक्ति, तत्व–ज्ञानी से अभेद हो जाती है, अर्थात् प्रेमी अपने प्रियतम को अपने से भिन्न नहीं पाता। आवश्यकता की पूर्ति में प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। परतन्त्र तो केवल भोग–इच्छाओं की प्रवृत्ति मात्र में है। संसार से सच्ची निराशा परम बल है। सब ओर से अपने को हटा लेना सहज योग है। अपने में ही अपने प्रेम–पात्र का अनुभव करना ज्ञान योग है। सब प्रकार के चिन्तन का अन्त कर देना ध्यान–योग है। विश्व–सेवा के भाव से प्रत्येक प्रवृत्ति को प्रेम–पात्र के नाते कर देना कर्म–योग है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१२६

मेरे निज–स्वरूप प्रेम–मूर्ति, उदयपुर, मेवाड़
१९–८–१९४४

प्रत्येक प्राणी को अपने अपने स्थान पर धर्मानुसार स्वीकृति के अनुसार अच्छे से अच्छा अभिनय करना चाहिए। यह सभी विचारशील जानते हैं कि अभिनय में जीवन–बुद्धि नहीं होती। जिस प्रवृत्ति में जीवन–बुद्धि नहीं होती उसके होने का सद्भाव नहीं होता । जिस प्रवृत्ति का सद्भाव नहीं होता उसका राग अंकित नहीं होता। राग रहित की हुई प्रवृत्ति बन्धन का कारण नहीं होती क्योंकि उसकी वासना नहीं बनती । यह नियम है कि सर्व वासनाओं का अन्त होने पर प्रेमी अपने में ही अपने प्रीतम को पाता है। सभी प्रवृत्तियों को लीलामय भगवान् की लीला समझ कर लीलावत् करनी चाहिए।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१३०

मेरे निज–स्वरूप भक्तवर, बम्बई

२९–९–१९४४

पत्र के रूप में दर्शन मिला। जब प्राणी अपनी दृष्टि से अपनी भूल जान लेता है तब भूल मिटाने की शक्ति आ जाती है, क्योंकि भूल का ज्ञान यथार्थ ज्ञान से होता है। अपने ज्ञान का आदर करो अर्थात् ज्ञान के अनुरूप जीवन बना लो। ज्यों–ज्यों प्राणी अपने ज्ञान का आदर करता जाता है त्यों–त्यों ज्ञान स्वतः बढ़ता जाता है। ज्ञान और जीवन में भेद रखना ज्ञान का निरादर करना है। ज्ञान का निरादर करने से ज्ञान घट जाता है। व्याकुलता उत्पन्न न होने का दुःख व्याकुलता उत्पन्न करने में समर्थ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१३१

मेरे निजस्वरूप परम उदार प्रेममूर्ति परम प्रिय, जोधपुर

२२–९–१९४४

पूर्व पत्र का उत्तर दे दिया था–मिला होगा। जीवन स्वयं रक्षा करता है, विचारशील केवल अपने कर्त्तव्य की ओर देखते हैं। परिणाम पर दृष्टि नहीं रखते। वर्तमान् परिस्थिति का सदुपयोग उन्नति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। मानव–जीवन में विश्राम तथा चैन के लिए कोई स्थान नहीं है अर्थात् उत्तरोत्तर आवश्यकता जाग्रत होनी चाहिए। ज्यों–ज्यों भोग इच्छा मिटती जाती है त्यों–त्यों स्वाभाविक आवश्यकता (natural want) जाग्रत होती जाती है। ज्यों–ज्यों स्वाभाविक आवश्यकता जाग्रत होती जाती है, त्यों–त्यों प्रेमपात्र से दूरी मिटती जाती है। अतः प्रेमपात्र की आवश्यकता प्रेमपात्र से अभेद करने में समर्थ है।

प्यारे, किसका दर्शन करना है ? मलमूत्र पूर्ण शरीर तो समीप होने पर भी दूर ही रहता है। ज्ञान तथा भाव की दृष्टि से देशकाल की दूरी कुछ अर्थ नहीं रखती। देखिए गहरी नींद में प्राणी वाह्य संसार से प्रसन्नतापूर्वक सम्बन्ध–विच्छेद कर लेता है। उस काल में किसी प्रकार का भय तथा चिन्ता नहीं रहती और जाग्रत की निर्बलता भी मिट जाती है। वैसे ही यदि प्राणी जाग्रत में सुषुप्तिवत् हो जाए तो वह

समाधि अर्थात् शक्ति–संचय का साधन स्वतः प्राप्त कर लेता है।

प्यारे, आस्तिकता सच्ची स्वतन्त्रता प्रदान करती है, परतन्त्रता नहीं बनती। आस्तिकता आ जाने पर सभी परिस्थितियों में दासता सदा के लिए विदा हो जाती है। अतः प्रेम–पात्र के नाते वर्तमान् परिस्थिति का सेवा भाव से सदुपयोग करते हुए प्रेम–पात्र की कृपा की प्रतीक्षा करो। वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों का लेशमात्र भी आह्वान नहीं करना चाहिए। दर्शन का अर्थ जानना है। यदि जानना है तो अपने को जानो। यदि सेवा करना है तो संसार सेवा करो। यदि किसी का होकर रहना है तो भगवान् के होकर रहो। ऐसा करने से सभी निर्बलताएँ स्वतः मिट जाऐंगी।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१३२

मेरे निजस्वरूप प्रेम–मूर्ति, अजमेर

१८–१०–१९४४

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। जब प्राणी तप नहीं करता तब उसको रोग के स्वरूप में तप करना पड़ता है। ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

यात्रा करने से रजोगुणी प्राणियों को लाभ होता है। निर्बल तथा निर्धन को विशेष लाभ नहीं होता।

देखो, जब प्राणी सुख आने पर वह नहीं करता जो करना चाहिए तब दुःख अपने आप आ जाता है। दुःख जीवन की आवश्यक वस्तु है। दुःख प्राणी को त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। ज्यों–ज्यों त्याग बढ़ता जाता है त्यों–त्यों दुःख अपने आप मिटता जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१३३

मेरे निज स्वरूप परम उदार स्वधर्मनिष्ठ प्रिय....., देहली

१५–११–१९४४

पत्र के रूप में दर्शन मिला। जो प्रोग्राम उपस्थित है उसके परिवर्तन में अपने को स्वतन्त्र नहीं पाता, क्योंकि केवल अपनी ओर से

नहीं बना है। अनेक बार मिलने की इच्छा सद्भाव पूर्वक सम्बन्ध तो स्थापित करती है किन्तु मिलने पर मिलने की निरर्थकता भी सिद्ध करती है।

प्यारे, शरीर मिलने पर भी दूर ही रहता है। भाव की एकता एवं विचारों की एकता तथा स्वरूप की एकता वास्तव में मिलन है। अतः प्रेम–पात्र के होकर उनके पवित्र प्रेम–मिलन की प्रतीक्षा निरन्तर स्वतः होनी चाहिए। जो किसी का नहीं रहता, उसके वे अवश्य हो जाते हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१३४

मेरी निजस्वरूपा परम उदार पूज्या माँ, लखनऊ

३–१२–१९४४

विचारशील उपस्थित प्रोग्राम को पवित्रतापूर्वक करने का प्रयत्न करते हैं।, व्यर्थ चिन्तन नहीं करते। व्यर्थ चिन्तन से शक्ति क्षीण होने के अतिरिक्त कुछ लाभ नहीं होता । मानव–जीवन में व्याकुलता के बिना विकास नहीं होता। परन्तु व्याकुलता तथा चिन्ता में भेद है। चिन्ता उन्नति से निराश होने पर होती है और व्याकुलता उन्नति की ओर जाने पर होती है। व्याकुलता बढ़ जाने पर विषय–निवृत्ति अर्थात् त्याग अपने आप आ जाता है। चिन्ता संसार की दासता उत्पन्न करती है। अतः विचारशील चिन्ता का नितान्त अन्त कर देते हैं।

जब प्राणी अपने पर अपनी कृपा करने लगता है तब उस पर जगत् तथा ईश्वर स्वयं कृपा करने लगते हैं। अर्थात् अपने अपने के, साथ वह करो जो करना चाहिए अपने को अभागा अर्थात् बुरा मत समझो और न दूसरों को बुरा समझो। अपने बल से अपने पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करो। सेवा और त्याग को जीवन बना लो । मन में से राग–द्वेष निकाल दो। प्राणी मात्र के प्रति हित तथा प्यार का भाव बना लो। बुरे से बुरे प्राणी को भी बुरा मत समझो। अपने दुःख का कारण किसी और को कभी मत समझो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१३५

मेरे निजस्वरूप, प्रेम—मूर्ति स्वधर्मनिष्ठ प्रिय। गीता प्रेस,
गोरखपुर
७—१२—१९४७

जब प्राणी कह कर डालता है जो उसे करना चाहिए तब सफलता स्वतः होने लगती है। प्राकृतिक विधान (Natural Law) हमसे वह आशा नहीं करता जो हम नहीं कर सकते। इस दृष्टि से मनुष्य मात्र कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही सभी उलझनें अपने आप सुलझ जाती हैं।

आस्तिकवाद प्राणी की परतंत्रता हर लेता है क्योंकि परतन्त्रता उसी समय तक जीवित रहती है जब तक प्राणी सब प्रकार से प्रेमपात्र का हो नहीं जाता । प्रेमपात्र का होकर उनके नाते विश्व की सेवा करना और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सब ओर से अपने को हटाकर प्रेम—पात्र में लग जाना, ऐसा करने से वर्तमान में ही प्रेमपात्र को पाकर प्राणी कृतकृत्य हो जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१३६

मेरे निजस्वरूप, ...
१७—१२—१९४४

जिस प्रकार प्रत्येक काष्ठ अग्नि बन कर अपने कारण में विलीन हो जाता है उसी प्रकार भक्त की प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति बन कर प्रेम—पात्र में विलीन हो जाती है। जिज्ञासु की प्रत्येक प्रवृत्ति विचार बन कर तत्त्वज्ञान में विलीन हो जाती है, विषयी की प्रवृत्ति विषय बनकर विषयी को बाँध लेती है। अपने को भक्त स्वीकार करते ही भक्ति स्वतः उत्पन्न होती है, प्रथम व्याकुलता और अन्त में आनन्द की गंगा लहराती है। यही भक्ति है। जब तक अपने में से विषयी स्वभाव का अन्त न कर दो तब तक चैन से मत रहो, किन्तु उस व्याकुलता को इन्द्रियों द्वारा प्रकट मत होने दो। ऐसा कोई बाहरी साधन मत करो जिससे दम्भ तो बढ़ जाय और हाथ कुछ न आए। मोह को लेशमात्र भी जीवित न रखो। संसार से सुख की आशा न करो, प्रत्युत

निरन्तर सेवा करते रहो। सेवा वस्तुओं तथा इन्द्रियों द्वारा नहीं होती, सेवा सेवक का स्वभाव है अर्थात् भक्त होने पर भक्ति द्वारा स्वतः विश्व की सेवा होती है। वस्तुओं द्वारा तो समाज के ऋण से मुक्त होता है अतः किसी भी वस्तु को बिगाड़ने का तथा उसको अपना समझने का किसी को लेशमात्र भी अधिकार नहीं है। सद्भावपूर्वक अपनत्व तथा उनको वर्तमान जीवन की वस्तु समझना ही वास्तविक आस्तिकता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१३७

मेरी निजस्वरूपा परम उदार स्वधर्मनिष्ठ पूज्या माँ, कलकत्ता
२८—१२—१९४४

पत्र के रूप में दर्शन मिला। भक्त के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः जो कर सकती हो उसे करती रहो, जो नहीं कर सकती उसके लिए चिन्ता न करो। अपना सब कुछ प्रेमपात्र के समर्पण कर अचिन्त हो जाओ। प्रेमपात्र किसी के ऋणी नहीं रहते। जिस प्रकार बीज गल जाने पर स्वतः वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार सद्भावपूर्वक समर्पण हो जाने से आवश्यकता की पूर्ति एवं इच्छाओं की निवृत्ति अवश्य हो जाती है। दुःख त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आया है, चिन्ता के लिए नहीं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१३८

मेरे निजस्वरूप स्वधर्मनिष्ठ प्रिय, इलाहाबाद
१८—१—१९४५

पत्र के रूप में दर्शन मिला।

भक्त—दृष्टि से सहनशीलता आदरणीय है किन्तु अन्याय का सहन करना न्याय दृष्टि से निन्दनीय है। उत्तम पुरुषों का परिवर्तन

ज्ञान से, मध्यम पुरुषों का लालच से तथा निकृष्ट पुरुषों का भय से होता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१३६

मेरे निजस्वरूप प्रेममूर्ति, चम्बल तट अबारी

१—२—१९४५

जब प्राणी उन सभी चेष्टाओं का अन्त कर देता है जो दूसरों के हित तथा प्रसन्नता का साधन नहीं हैं तब उसकी सभी निर्बलताएँ स्वतः मिटने लगती हैं और छिपी हुई शक्तियों का विकास होने लगता है क्योंकि दोष की निवृत्ति होने पर गुण स्वतः आ जाते हैं। सभी दोषों का मूल स्वार्थभाव और सभी गुणों का मूल सेवा–भाव है। अतः प्रत्येक आवश्यक प्रवृत्ति को सेवा भाव से, अभिनय के रूप में, पर की प्रसन्नता के लिए करते रहो। अपनी प्रसन्नता के लिए अपने प्रेम–पात्र से भिन्न की ओर मत देखो। यही सच्ची आस्तिकता तथा तप है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१४०

मेरे निजस्वरूप प्रेम–मूर्ति स्वधर्मनिष्ठ प्रिय, काशी

१९—२—१९४५

अपनी निर्बलताओं का ज्ञान विचारशील के हृदय में पीड़ा उत्पन्न करता है। वह पीड़ा ज्यों–ज्यों प्रबल होती है त्यों–त्यों निर्बलता मिटाने की आवश्यकता प्रबल होती जाती है। आवश्यकता तथा इच्छा में यही भेद है कि इच्छा पूर्ति न होने पर कालान्तर में मिट जाती है अर्थात् प्राणी उससे निराश हो जाता है और पूर्ति होने पर पुनः उसी प्रकार की अनेक इच्छाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। परन्तु आवश्यकता उत्तरोत्तर प्रबल ही होती जाती है। यहाँ तक कि सभी इच्छाओं को खा लेती है, सभी परिस्थितियों से अतीत कर देती है और सभी वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद कर देती है। इतना ही नहीं, पूर्ति होने पर पुनः उत्पन्न नहीं होती। यही आवश्यकता की महत्ता और इच्छा की न्यूनता है। अतः अपनी निर्बलता का ज्ञान मौलिक आवश्यकता जाग्रत

करने में समर्थ है। इसी कारण विचारशील सतत अपनी निर्बलताओं को देखकर मिटाने का प्रयत्न करते हैं। हार स्वीकार नहीं करते। सभी निर्बलताएँ मिट सकती हैं क्योंकि अपनी बनाई हुई होती हैं। प्राणी, प्रयत्न से उसी को मिटा सकता है जो उसकी बनायी हुई है। भगवान् की अहैतुकी कृपा होने पर अपनी निर्बलताओं का ज्ञान होता है। किन्तु जो प्राणी निर्बलता को निर्बलता जानकर उसे मिटाने का प्रयत्न नहीं करता वह भगवान् की सुधामयी कृपा का दुरुपयोग करता है। अतः प्राकृतिक विधान से मिले हुए ज्ञान के अनुरूप जीवन बनाने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१४१

मेरी निजस्वरूपा परम उदार पूज्या माँ, दारा नगर, बनारस

२—३—१९४५

सच तो यह है कि हम लोग प्रतिकूल परिस्थिति का उपयोग करना नहीं जानते। अनुकूल परिस्थितियों की दासता ने हम लोगों पर अपना पूरा अधिकार कर लिया है परन्तु फिर भी मस्तिष्क आस्तिकता का गीत गाता है। निम्नलिखित कहानी विचार पूर्वक पढ़ियेगा :—

कहानी —

"एक पथिक अपना सारा बोझ उँट पर लाद कर चला जा रहा था। उसने सोचा कि उँट पर बोझ अधिक है। उसने उसी बैठी हुई अवस्था में कुछ बोझ अपने सिर पर रख लिया। कुछ दूर चलने के पश्चात् उसकी गर्दन दबने लगी अर्थात् वह बोझ से दब कर विशेष उद्विग्न होने लगा। इतने में अकस्मात् एक सन्त मिल गये। सन्तों का स्वभाव सहज ही सर्व हितैषी होता है। बेसमझ पथिक को दुःखी देख कर कहने लगे "प्यारे पथिक सिर पर बोझा क्यों रखे हो ?" पथिक ने कहा— "महाराज, उँट पर बहुत बोझा है, यह समझ कुछ बोझ मैंने अपने ऊपर रख लिया है"। सन्त ने कहा—"भाई तुम किस पर बैठे हो?" पथिक ने कहा— "महाराज बैठा तो ऊँट पर ही हूँ।" सन्त ने कहा—"फिर बोझा किस पर रहा ?" क्या तुम्हारी इस बुद्धिमता से ऊँट का बोझा घट गया ?"

पथिक की समझ में सन्त की वाणी आ गयी। उसने सिर की

पगड़ी तक उतार कर रख दी और निश्चिन्त हो प्रसन्नता पूर्वक यात्रा करने लगा।

देखो माँ ! यही हम बनावटी आस्तिक प्राणियों की दशा है। वैसे तो हम अपना सारा बोझ तथा अपने को भगवान् पर रख देते हैं, किन्तु उसमें से कुछ बोझा (आसक्ति) रूप अपने सिर पर रख बोझ से पिचे जा रहे हैं। और यह समझ रहे हैं कि हमने उँट पर से बोझ कम कर लिया है। किसी विचारशील का संकेत पाकर यदि हम अपने को सर्व भाव से भगवान् के समर्पण कर अचिंत हो जायें तो हमारी जीवन–यात्रा भी पथिक के समान प्रसन्नता पूर्वक सफल हो जाय।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१४२

मेरे निजस्वरूप, काशी

२–९–१९४५

, पत्र के रूप में भेंट हुई। आगे–पीछे का व्यर्थ चिन्तन न करने से और किसी भी कार्य को मस्तिष्क में जमा न रखने से तथा प्राप्त कार्य को पूरी शक्ति लगाकर करने से आलस्य मिट जाता है और काम का बोझा नहीं मालूम देता। वक्त काटना उन्हीं प्राणियों को कठिन हो जाता है, जो प्रत्येक कार्य के अंत में प्रेम–पात्र का चिन्तन तथा ध्यान नहीं करते। जो साधक शरीर आदि प्रत्येक वस्तु को अपना नहीं मानते, प्रत्युत संसार रूपी वाटिका की, प्रेम–पात्र के नाते, शरीर से सेवा करते हैं वे न तो थकते हैं और न असफल होते हैं। असफलता का हेतु एकमात्र स्वार्थ है। थकावट का कारण केवल व्यर्थ चेष्टाओं का करना है। अतः अपने को सेवक बना लो। फिर सभी कार्य सुगमता पूर्वक स्वयं होने लगेंगे।

थोड़े–थोड़े समय बाद प्रेम–पात्र से, मूक होकर, प्रार्थना करो कि हे नाथ, अपनी अनंत शक्ति से अपने इस शरीर को संसार की सेवा के योग्य बना दो। सेवा का भाव स्थायी होते ही शक्ति का विकास अवश्य होगा।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१४३

मेरे निजस्वरूप स्वधर्मनिष्ठ प्रिय, नाथद्वारा

सप्रेम यथायोग्य। २८—९—१९४५

प्रत्येक प्राणी में योग्यता की भिन्नता होती है, इस कारण साधन में भेद होता है। किन्तु साध्य की एकता होती है।

जो साधक अपनी दृष्टि से अपनी निर्बलताओं को देख कर उनके त्याग में समर्थ हैं, उनको प्रथम मन, इन्द्रिय आदि की स्थिरता प्राप्त होती है और अन्त में तीव्र जिज्ञासा के कारण असह्य व्याकुलता स्वतः आ जाती है। व्याकुलता की जागृति और अखण्ड प्रसन्नता की प्राप्ति युगपद् होती है। किन्तु कुछ लोग उस व्याकुलता को व्याकुलता नहीं मानते। वास्तव में तो ऐसा कोई विकास नहीं होता जिसके मूल में व्याकुलता न हो।

केवल विचार तथा अभ्यास के बल पर इन्द्रिय आदि में स्थिरता आ सकती है किन्तु स्थिरता के रस का बन्धन तीव्र व्याकुलता के बिना मिट नहीं सकता। अतः व्याकुलता अन्तिम साधन है।

साधारण प्राणी केवल भावावेश को व्याकुलता समझने लगते हैं जो वास्तव में हृदय की दशा विशेष है। व्याकुलता आकर तब जाती है जब प्रेमी तथा प्रेम-पात्र अभिन्न हो जाते हैं। व्याकुलता की अग्नि सभी विकारों को भस्म कर देती है। जब तक कोई विकार शेष रहता है तब तक व्याकुलता की अग्नि शान्त नहीं होती। यही वास्तव में व्याकुलता है।

सावन-भादों की नदी की भाँति घटने-बढ़ने वाली दशा भावावेश है, व्याकुलता नहीं। हाँ यह अवश्य है कि जिस प्रकार नदी का वेग सभी कचरे को बहा देता है उसी प्रकार भावावेश, हृदयशील प्राणियों के हृदय के कचरे को बहा देता है। विचारशील हृदय के कचरे को विचार की अग्नि से दग्ध कर देता है। अन्त में दोनों ही साधक एक ही परम तत्त्व में विलीन हो जाते हैं।

विचारशील में त्याग का बल होता है। भावुक भक्त शिशु के समान है और विचारशील, प्रौढ़ प्राणी के तुल्य है। अतः अपनी योग्यता के अनुसार जो साधन सुगम मालूम हो उसी का अनुसरण करना चाहिए। योग्यता-भेद होने के कारण प्रत्येक साधक के साधन में

भिन्नता अनिवार्य है। किन्तु जब साधक अपनी योग्यता के अनुसार साधन में सफल हो जाता है तो साध्य से एकता अवश्य हो जाती है। अर्थात् अपनी–अपनी योग्यता के अनुसार साधन करके साधक एक ही तत्त्व को पाता है क्योंकि सत्य में कल्पना–भेद भले ही हो, वस्तु–भेद नहीं हो सकता।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१४४

मेरे निजस्वरूप भक्तवर परम प्रिय..... , जोधपुर
१८–१०–१९४५

पत्र के रूप में दर्शन मिला। विचारशील तथा हृदयशील के पठन–पाठन तथा चिन्तन–ध्यान में योग्यता– भेद होने के कारण दृष्टिकोण में भेद रहता है अर्थात् जिस प्रकार की रुचि होती है उसी प्रकार के ग्रन्थों का साधक पाठ करता है क्योंकि एकनिष्ठता सफलता की कुंजी है।

अब रही चिन्तन–ध्यान की बात, विचारशील प्रथम जानने का प्रयत्न करता है और उसके पश्चात् जाने हुए तत्त्व में प्यार उत्पन्न होता है।

हृदयशील विकल्प–रहित विश्वास के आधार पर प्रथम प्यार करता है और अन्त में उसे जान कर कृतकृत्य हो जाता है।

हृदयशील और विचारशील में अन्तर केवल इतना है कि हृदयशील प्यार के पश्चात् जानता है और विचारशील जानने के पश्चात् प्यार करता है।

गहराई से देखिये, जिसे जानता है उसी से प्यार होता है और जिससे प्यार होता है उसी को जानता है अर्थात् जानकारी प्यार में और प्यार जानकारी में स्वतः विलीन हो जाता है। दोनों प्रकार के साधकों में आरम्भ में भेद और अन्त में अभिन्नता होती है।

विचारशील में दोषों के त्याग का बल होता है। दोषों का त्याग निर्दोषता से प्यार उत्पन्न करता है।

हृदयशील में निर्दोषता की प्रियता का बल होता है। निर्दोषता

की प्रियता दोषों के त्याग की शक्ति प्रदान करती है।

इस दृष्टि से दोनों साधकों में आरम्भ में भेद और अन्त में एकता सिद्ध होती है। साधारण व्यक्ति बुद्धिजन्य विश्वास तथा विकल्प रहित विश्वास को विचार मान लेते हैं जो वास्तव में नहीं है। जिस प्रकार किसी को भगवान के निराकार स्वरूप में प्यार है—यह बुद्धि जन्य विश्वास है। किसी को भगवान् के साकार स्वरूप में प्यार है—यह हृदय जन्य विश्वास है। ये दोनों साधक विचारक नहीं हैं।

विचारक के मन में भगवान् क्या है ? यह प्रश्न जाग्रत होता है।

निराकार का प्रेमी मन इन्द्रिय आदि के व्यापार को शान्त कर अचिन्त होता है जिससे ध्यान स्वतः होता है।

साकार का प्रेमी मन, इन्द्रिय आदि के व्यापार को अपने स्वीकार किए हुए एक ही प्रतीक में भाव के अनुसार विलीन करता है इससे भी ध्यान अपने आप हो जाता है।

साधक अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुरूप साधन करने पर उत्तरोत्तर विकास पाता है, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है। सभी साधन साधक की दृष्टि से उत्पन्न होते हैं। इस कारण साधन में भेद होने पर भी साध्य में भेद नहीं होता। जिस प्रकार धन के अभिलाषी भिन्न—भिन्न प्रकार के साधन से एक ही प्रकार का धन प्राप्त करते हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१४५

मेरे निज स्वरूप भक्तवर, देहली

१७—११—१९४५

एक समय में एक ही कार्य हो, ऐसी धारणा बनाने के लिए कार्य कुशलता, भाव की पवित्रता एवं लक्ष्य पर दृष्टि रखना परम अनिवार्य है।

कार्य कुशलता से क्रिया शक्ति का सदुपयोग होगा। भाव की पवित्रता से मानसिक शक्ति का सदुपयोग होगा और लक्ष्य पर दृष्टि रखने से विचार शक्ति का सदुपयोग होगा। इन तीनों का एक स्वरूप हो जाने पर विक्षेप मिट जाएगा।

प्रत्येक प्रवृत्ति कर्ता का परिचय है। अर्थात् ज्यों–ज्यों कर्ता में पवित्रता आती है त्यों–त्यों प्रवृत्ति स्वयं पवित्र होती है। अर्थात् पवित्र कर्ता से पवित्र प्रवृत्ति होती है। कर्ता जिस ज्ञान तथा भाव के आधार पर प्रवृत्ति आरम्भ करता है अन्त में प्रवृत्ति उसी भाव तथा ज्ञान को सिद्ध करती है। अतः निज ज्ञान के अनुरूप प्रवृत्ति होने पर सभी दोष मिट जाते हैं। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपनी सभी प्रवृत्तियों को पति की प्रसन्नता का साधन बना, पति के प्रेम को पाकर कृतकृत्य हो जाती है उसी प्रकार प्रेमी अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति को प्रेमपात्र की प्रसन्नता का साधन बना, प्रेम–पात्र का प्रेम पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

जीवन की भिन्न–भिन्न प्रवृत्तियों को एक ही भाव में विलीन कर दो। अर्थात् क्रिया–भेद होने पर भी लक्ष्य भेद तथा प्रीति–भेद नहीं होना चाहिए। ऐसा करने से प्रत्येक कार्य प्रेमपात्र की प्रसन्नता का हेतु बन जाएगा। जिस कार्य में प्रीति की न्यूनता होती है उसी कार्य से मन इधर उधर चला जाता है। आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन न करने से तथा वर्तमान परिस्थितियों का सदुपयोग करने से अथवा सब प्रकार से प्रेमपात्र के हो जाने से सभी विक्षेप मिट जाते हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१४६

भक्तेश्वर परम प्रिय, आगरा

२१–१२–१९४५

काफी दिन पूर्व पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला था। उत्तर में देर हुई क्षमा कीजिए। आपने जो लिखा है, वह ठीक है–परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि कारण के परिवर्तन से कार्य का परिवर्तन होता है। अतः इन्द्रियों के परिवर्तन के लिए मन का परिवर्तन आवश्यक है और मन के परिवर्तन के लिए बुद्धि का परिवर्तन आवश्यक है और बुद्धि के परिवर्तन के लिए सीमित अहम् भाव जो किसी न किसी स्वीकृति में आबद्ध है, उस स्वीकृतियों का परिवर्तन आवश्यक है, क्योंकि स्वीकृति के अनुरूप वासना जागृत होती है, और वासनाओं के अनुरूप बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि कार्य करते हैं। इस दृष्टि से साधक को सब ओर से प्रथम अपवित्र स्वीकृतियों को हटा कर पवित्र स्वीकृतियों की

स्थापना करनी चाहिए।

पवित्र स्वीकृति ज्यों–ज्यों दृढ़ होती जायगी, त्यों–त्यों पवित्र भावनाएँ स्वतः उत्पन्न होने लगेंगी। यह नियम है कि सद्भाव के अनुरूप प्रवृत्ति स्वयं होने लगती है। अतः अहंभाव के पवित्र होने पर पवित्र भावनाएँ और पवित्र भावनाओं के अनुरूप मन इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति बिना ही प्रयत्न स्वाभाविक होने लगेगी। यही वास्तव में सहज और सुगम उपाय है।

अहंभाव को शुद्ध करने का प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होगा क्योंकि मन इन्द्रिय आदि तो बेचारे यन्त्रवत् हैं। अतः सबसे प्रथम साधक को अपने में भक्त–भाव की स्थापना करनी चाहिए। "मैं भक्त हूँ" इस भाव की दृढ़ता होते ही भक्ति स्वतः आ जाएगी।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१४७

मेरे निज–स्वरूप, ...

१३–२–१९४६

प्राकृतिक विधान के अनुसार रोग वास्तव में तप है। किन्तु साधारण प्राणी उससे भयभीत होकर वास्तविक लाभ नहीं उठा पाते। रोग से शरीर की वास्तविकता का ज्ञान होता है तथा इन्द्रिय–लोलुपता मिट जाती है। भयंकर रोग छोटे–छोटे रोगों को मिटाकर आरोग्य तथा विकास प्रदान करता है। भोगवासनाओं का अन्त कर देने पर मन में स्थिरता स्वतः आ जाती है। ज्यों–ज्यों स्थिरता स्थायी होती जाती है त्यों–त्यों रोग मिटाने की शक्ति अपने आप उत्पन्न होती जाती है। शरीर से अपनत्व हटा लो, हृदय में केवल प्रीति की गंगा लहरानी चाहिए। राग–द्वेष रहित होना ही वास्तविक पवित्रता है। पवित्रता आते ही प्रीति स्वतः उत्पन्न होती है। यह भली प्रकार समझ लो कि प्रीति स्वयं प्रीतम से अभिन्न कर सब प्रकार से अभय कर देती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१४८

मेरे निज स्वरूप, आगरा

१९—२—४६

पत्र के रूप में दर्शन मिला। मानसिक बल शारीरिक बल की अपेक्षा अधिक महत्त्व की वस्तु है। परन्तु कुछ कार्यों के लिए शारीरिक बल की भी परम आवश्यकता है। अन्तर केवल इतना है कि मानसिक बल शारीरिक बल के बिना निरर्थक हो जाता है। इसी कारण विचारशील व्यक्ति मन को स्वस्थ रखने का विशेष प्रयत्न करते हैं। ज्यों–ज्यों सेवा और त्याग सबल तथा स्थायी होते जाते हैं त्यों–त्यों मन स्वतः स्वस्थ होता जाता है। यह निर्विवाद सत्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१४९

मेरे निजस्वरूप, काशी

६—३—१९४६

शरीर, मन, इन्द्रियादि के व्यापार को देखो और असंग हो जाओ। ऐसा करते ही निर्वासना स्वतः आ जायगी। निर्वासना आ जाने पर प्रेमी अपने में ही प्रीतम को पा सब प्रकार से अचिन्त तथा अभय हो जाता है अर्थात् अहंता अभिमान–शून्य हो जाती है और हृदय में केवल प्रीति की गंगा लहराती है तथा शरीर विश्व के काम आ जाता है। यही मानव जीवन की पूर्णता है।

भूल कर भी किसी के दोष मत देखो क्योंकि जब दोषी स्वयं जानता है और नहीं मानता तो फिर अन्य किसी को दोष देखने का क्या अधिकार ? दोष करना, अथवा किसी में दोषी भाव की स्थापना करना समान अर्थ रखता है। इस कारण विचारशील न तो किसी को दोषी मानते हैं, न किसी के दोष देखते हैं और न स्वयं दोष करते हैं। प्रत्येक बुराई का उत्तर भलाई से दो अथवा सहन करो और मौन हो जाओ। क्योंकि बुराई का उत्तर बुराई से देना पशुता है।

यदि प्रीतम का प्रेम नहीं मिला तो कोई बात नहीं किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य किसी को जीवन की वस्तु मत बनाओ, न चैन से रहो।

स्थायी प्रसन्नता न मिलने पर विचारशील चैन से नहीं रहते क्योंकि परिवर्तनशील प्रसन्नता से बेचैनी कहीं अधिक मूल्य की वस्तु है। स्थायी प्रसन्नता के बिना चैन से न रहना साधक का परम पुरुषार्थ है। जहाँ तक हो सके प्रत्येक क्षण के अन्त में देखो कि उनकी अहैतुकी कृपा का दरवाजा क्यों नहीं खुला ? उनकी अहैतुकी कृपा का बल सभी बलों में श्रेष्ठ है। अपना सब कुछ समर्पण कर अपने में ही अपने प्रीतम को देखो–यही वास्तविक योग है।

आत्म–समर्पण सच्चा भजन है। सभी अवस्थाओं से अतीत हो जाना त्याग है। आयी हुई प्रतिकूलता को प्रसन्नता पूर्वक सहन कर लेना तप है। लेशमात्र भी सुख–दुःख में आबद्ध चित्त आनन्द से विमुख हो जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१५०

मेरे निज–स्वरूप, आगरा

१०—३—४६

पत्र के रूप में दर्शन मिला। प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करने पर शक्ति बिना ही माँगे मिल जाती है, क्योंकि दाता प्रेम तथा न्याय का भण्डार हैं। कर्तव्य पालन में असमर्थता स्वीकार करना प्राकृतिक विधान के विपरीत है, क्योंकि साधक को वह नहीं करना है जो नहीं कर सकता।

भक्त–भाव का सद्भाव हो जाने पर प्रेम–पात्र से सम्बन्ध की दृढ़ता होते ही प्रियता स्वतः उत्पन्न होती है, यह निर्विवाद सत्य है।

छिपा हुआ राग आलस्य उत्पन्न करता है, क्योंकि उत्साह हीनता तभी आती है जब रुचि के विपरीत पार्ट करना पड़े। राग रहित होते ही सभी एक्टिंग समान अर्थ रखती हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१५१

भक्तवर परम स्नेही पूज्या माँ, कराँची

१३—४—४६

पत्र के रूप में दर्शन मिला। धर्म–प्रियता ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों–त्यों मोह–प्रियता स्वतः मिटती जाती है। इसके अतिरिक्त मोह–निवृति का अन्य कोई उपाय नहीं है। साधारण प्राणी मोह को सुरक्षित रखने के लिए पुण्य कर्म करते हैं। विचारशील मोह को मिटाने के लिए दुःखी प्राणियों की सेवा करते हैं। गहराई से अपने मन को देखो कि क्या अब तक जो कुछ किया है वह केवल छिपे हुए मोह की रक्षा के लिए किया है ? यह नियम है कि जब प्राणी अपनी दृष्टि से अपनी भूल देख लेता है तो उसे मिटाने की शक्ति स्वतः आ जाती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !
आपका अभेदस्वरूप

.....

१५२

भक्तवर परम उदार प्रिय, सोल्न

२०—५—१९४६

सादर अभिनन्दन।

प्रत्येक व्यक्ति में, समाज में, राष्ट्र में दो प्रकार की मनोवृत्तियाँ सतत कार्य करती रहती हैं– उपार्जन तथा उपभोग। ज्यों–ज्यों उपार्जन करने वाली मनोवृत्ति सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों–त्यों गुणों का विकास स्वतः होता जाता है और ज्यों–ज्यों उपभोग की वृत्ति सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों–त्यों ह्रास स्वतः होता जाता है। अर्थात् विकास का मूल उपार्जन, तथा ह्रास का मूल उपभोग है। उपार्जन काल में उपभोग कदापि नहीं हो सकता और उपभोग काल में उपार्जन नहीं हो सकता। प्रत्येक उपभोग के मूल में स्वार्थ तथा राग निवास करता है। प्रत्येक उपार्जन के मूल में सेवा तथा त्याग निवास करता है। हितकारी चेष्टाओं का करना उपार्जन और इन्द्रिय लोलुपता के कारण अहितकारी चेष्टाओं का करना उपभोग है। वस्तु द्वारा वस्तु तथा अवस्थाओं द्वारा क्रिया–जन्य रस का आस्वादन करना उपभोग और किसी निर्बलता के मिटाने के लिए शक्ति–संचय करना उपार्जन

कहलाता है। उपभोग से प्राणी वस्तुओं का दास और उपार्जन से वस्तुएँ प्राणी की दास बन जाती हैं। उपभोग सीमित तथा परतन्त्र बनाता है और उपार्जन असीमित तथा स्वतन्त्र बनाता है। उपभोग अनित्य जीवन और उपार्जन नित्य जीवन की ओर ले जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१५३

भक्तवर परम प्रिय, नाथद्वारा

३—९—१९४६

बहुत दिनों बाद पत्र के रूप में दर्शन मिला। प्रत्येक गुण स्वार्थ–त्याग करने पर ही, उन्नति का साधन होता है। स्वार्थयुक्त प्राणी का गुण भी वास्तव में दोष ही है। जिस प्रकार प्राण सहित शरीर ही वस्त्र तथा अलंकारों से सुशोभित हो सकता है, प्राण रहित नहीं उसी प्रकार स्वार्थ रहित होने पर ही गुण प्राणी को सुशोभित करते हैं।

ज्यों–ज्यों आत्म–विश्वास सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों–त्यों स्वार्थ–त्याग करने की शक्ति स्वतः होती जाती है क्योंकि जब प्राणी अपने से शरीर आदि वस्तुओं का मूल्य अधिक बढ़ा लेता है तभी स्वार्थ में आबद्ध हो जाता है। अतः आत्म–विश्वास प्राप्त करने के लिए वस्तुओं की दासता का त्याग परम अनिवार्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१५४

मेरे निजस्वरूप, सोलन

१०—५—४७

पत्र के रूप में दर्शन मिला । समय का सदुपयोग बड़े महत्त्व की वस्तु है,क्योंकि जो समय निकल जाता है वह किसी भी प्रकार हाथ नहीं आता है। इस कारण विचारशील प्रत्येक स्वाँस का सदुपयोग करते हैं। जो काम करना हो उसको पूरी शक्ति लगाकर पवित्रता पूर्वक करते रहो, ऐसा करने से काम से अरुचि न होगी और न व्यर्थ चिन्तन होगा। व्यर्थ चिन्तन करने से शक्ति का ह्रास हो जाता है और अचिन्त रहने से मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता और हृदय में

निर्भयता आ जाती है जो वास्तव में मानव की माँग है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१५५

मेरे निजस्वरूप, नयी दिल्ली
२९—१०—१९४७

आपका ता० २६—६—४७ का पत्र मिला। मैं इधर कुछ दिनों से अधिकतर हरिद्वार में रहा।

किसी को अपना न समझना अथवा सभी को अपना समझना तत्त्व दृष्टि से उचित मालूम होता है। परन्तु इस बात पर विचार करना है कि किसलिए सबको अपना समझना चाहिये और किसलिए किसी को अपना नहीं समझना चाहिए। यदि कुछ देना हो तो सभी अपने हैं। अर्थात् सेवा करने के लिए सभी को अपना समझना चाहिए। और यदि कुछ लेना हो तो किसी को अपना नहीं समझना चाहिये, अर्थात् अपने हित के लिए संसार की आशा नहीं करनी चाहिये। उपर्युक्त दोनों सद्भावनाओं का अपने—अपने स्थान पर यथेष्ट उपयोग करने पर प्राणी सभी प्रतिकूलताओं पर विजय पाकर कृतकृत्य हो जाता है। यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१५६

मेरे निज—स्वरूप, ...
२—११—१९४७

उन्नतिशील मन की तीन प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं जिनमें दो—प्रथम व द्वितीय से गुणों का विकास और तीसरी से आध्यात्मिक उन्नति होती है। प्रथम, अशुद्ध संकल्पों को त्याग शुद्ध संकल्पों का स्वाभाविक उत्पन्न होना अर्थात् सहज भाव से ही मन में सर्वहितकारी सद्भावनाओं का निवास करना। द्वितीय, सहज भाव से उत्पन्न हुई सद्भावनाओं का स्थायी हो जाना अर्थात् विकल्प रहित होकर शुद्ध संकल्पों का दृढ़ हो जाना। तीसरा, शुद्ध संकल्पों का अभिमान गल जाने पर निःसंकल्पता का आ जाना—जिसके आते ही

प्रेमी को प्रेमास्पद तथा साधक को सिद्धि एवं जिज्ञासु को तत्त्व ज्ञान स्वतः हो जाता है। उस निःसंकल्पता को प्राप्त करने के लिए अपने में से सभी सम्बन्धों का, सब प्रकार के चिन्तन का विचार पूर्वक त्याग करना परम अनिवार्य है। यह भली प्रकार समझ लीजिये कि प्राणी भलाई करने से, भला नहीं होता प्रत्युत भला होने पर भलाई स्वतः होने लगती है, जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से प्रकाश अपने आप फैलता है। अतः भक्त होने पर भक्ति, पवित्र होने पर पवित्रता, अभिमान शून्य होने पर निःसंकल्पता, स्वार्थ भाव का अन्त होने पर उदारता, राग–द्वेष रहित होने पर त्याग, प्रेम आदि आवश्यक शक्तियाँ, अपने–आप आ जाती हैं। निर्वासना आध्यात्मिक उन्नति का प्राण है, संकल्प–शुद्धि गुणों के विकास का साधन है और दृढ़ संकल्प निर्बलता हटाने का महा मन्त्र है। अतः उपर्युक्त तीन प्रकार की अवस्थाओं में ही मन को विचरना चाहिए। यदि आप का मन आपकी बात न माने तो उसे अपना मत समझो। यह भली प्रकार समझ लो कि आपके सहयोग के बिना आपका मन कुछ नहीं कर सकता। मन प्रेमपात्र के रहने का मन्दिर है। तन विश्व की सेवा का साधन है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१४७

मेरी निजस्वरूप, अहमदाबाद

१६–१२–१९४७

यह भली प्रकार समझ लो कि अधिकार कर्त्तव्य का दास है। क्योंकि कर्त्तव्यनिष्ठ प्रणियों को अधिकार स्वतः ही मिल जाता है और कर्त्तव्य–पालन न करने पर मिला हुआ अधिकार छिन जाता है। इसी कारण विचारशील अधिकार माँगने का प्रयत्न नहीं करते, प्रत्युत अपने कर्त्तव्य–पालन में सर्वदा तत्पर रहते हैं। प्रत्येक कर्ता अपने कर्त्तव्य में सर्वदा स्वतन्त्र है। अकर्त्तव्य केवल मिली हुई शक्ति के दुरुपयोग में है। अतः मिली हुई शक्ति का सदुपयोग कर कर्त्तव्यनिष्ठ बन जाओ, यही उन्नति का मूल है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१५८

मेरे निज—स्वरूप प्रिय, त्रिवेणी तट, प्रयाग

१२—२—१९४८

सादर अभिवादन। पत्र के रूप में दर्शन मिला। दीनवत्सल श्रद्धेय बापू का शरीरांत उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार क्षमाशील ईसा का। उसका परिणाम विरोधी विचारधारा पर विजय प्राप्त करना अवश्य है। हमें गाँधीजी के नाम—रूप को त्याग उनके सिद्धान्त का आदर करना चाहिए। नाम—रूप की आसक्ति, मोह उत्पन्न कर, उससे भिन्नता स्थापित करती है। कोई भी नियम क्रोध तथा आवेश में आकर नहीं बनाना चाहिए, और न किसी नियम को जीवन भर के लिए करना चाहिए। आपके सभी नियम परम सुन्दर हैं परन्तु नम्बर २ का नियम जो गाँधीजी के ध्यान करने का है उसमें गाँधीजी के सिद्धान्तों का ध्यान करना अधिक श्रेयस्कर होगा।

की हुई भूल का पुनः न करना ही वास्तव में प्रायश्चित है। उपवास की अपेक्षा किसी दीन को दान देना अधिक महत्त्व रखता है। उपवास तप का अंग है, दान सेवा का। तप शक्ति का विकास करता है और सेवा हृदय का विकास करती है। हृदय का विकास होने पर ही प्राणी शक्ति का प्रयोग कर सकता है। अतः शक्ति—संचय से पूर्व हृदय को विकसित करने का विशेष ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि मिली हुई शक्ति का सदुपयोग करने पर आवश्यक शक्ति स्वतः मिल जाती है, यह निर्विवाद सत्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१५९

मेरे निज स्वरूप परम उदार प्रिय, हरिद्वार

८—६—१९४७

मेरे कहने का भाव यह है कि धन की अपेक्षा शारीरिक स्वास्थ्य को अधिक समझना चाहिये और शरीर की अपेक्षा विवेकवती बुद्धि को अधिक समझना चाहिये। विवेक से मोह की निवृत्ति होती है और शुद्ध अनुराग की उत्पत्ति होती है, जो उन्नति का मूल है।

अनुराग हृदय की एक दशा है जो प्रेमी को प्रेमपात्र से, जिज्ञासु को तत्त्व ज्ञान से, योगी को योग से, सेवक को सेवा से, भक्त को भगवान् से, व्यक्ति को समाज से, शरीर को विश्व से, और तुच्छ को महान् से अभिन्न कर देती है। अतः अनुराग प्राप्त करने के लिए विवेक परम आवश्यक है। विवेक की उत्पत्ति निःसंकल्प होने पर ही संभव है। निःसंकल्पता आत्मसमर्पण से ही प्राप्त होती है। इस कारण आस्तिक प्राणियों को अपना सब कुछ अपने इष्ट–देव के समर्पण कर देना चाहिए। अर्थात्–

मेरा मुझ में कुछ नहीं,
जो कुछ है सो तोर।

\+ + +

बराये नाम भी अपना न कुछ बाकी निशाँ रखना।
न तन रखना, न मन रखना, न जी रखना न जाँ रखना।।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१६०

मेरे निज–स्वरूप,

यमुना नगर
२७–११–१९४८

उन्नतिशील मानव केवल वर्तमान का सदुपयोग तथा आदर करते हैं। आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन नहीं करते। पूरी शक्ति लगाकर पवित्रता पूर्वक प्रभु के नाते वर्तमान कार्य करते रहो। कार्य के अन्त में या तो अपने इष्ट –चिन्तन से विषय–चिन्तन मिट जाएगा और अचिन्त होने से अपने में ही अपने इष्ट का अनुभव होगा।

प्राणी प्ररिस्थिति परिवर्तन में भले ही पराधीन है पर उसके सदुपयोग में सर्वथा स्वाधीन है। यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्ध है। क्योंकि कर्त्तव्य पालन में कर्ता असमर्थ नहीं है और कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर असफलता नहीं है। तो फिर निराशा के लिए कौन सा स्थान है ?

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१६१

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय, गीता भवन

२७—७—१९४९

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपने जो कुछ लिखा है ठीक ही है। परन्तु भैया ! व्यर्थ चिन्तन से बड़ी हानि होती है। चिन्तन केवल उसका करना चाहिए, जिसे प्राप्त करना हो। इस दृष्टि से सर्व–समर्थ भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु चिन्तन करने योग्य नहीं है। अतः सब प्रकार से प्रभु के होकर रहो। और उनके ही नाते अभिनय के रूप में प्रत्येक कार्य करो। अभिनयकर्ता अपनी वास्तविक स्थिति को नहीं भूलता। उसके अभिनय से देखने वाले भले ही भूल जाँय। मन में कभी भी दुर्विचार मत आने दो। असावधानी ही परम भूल है। मन को पवित्र भावनाओं से भर लो अथवा खाली करलो क्योंकि भावनाओं के अनुरूप ही जीवन हो जाता है और मन खाली हो जाने पर मन उसे मन उस प्रभु का मन्दिर बन जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१६२

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय, मसूरी

सादर सप्रेम हरिस्मरण। १८—९—१९४९

इधर कुछ दिनों से शरीर अस्वस्थ सा रहता है। मेरा विचार किसी हिल स्टेशन पर एक आश्रम के निर्माण करने का है। सफलता सर्व समर्थ प्रभु की कृपा पर निर्भर है। समझ के अधीन मन को रखना चाहिये। अर्थात् विवेक पूर्वक कर्म होना चाहिये क्योंकि प्राणी का विकास तभी होता है जब विवेक–अधीन मन हो जाने पर जितेन्द्रियता स्वाभाविक आ जाती है, और व्यर्थ चिन्तन मिट जाता है। व्यर्थ चिन्तन मिट जाने पर सार्थक चिन्तन स्वतः उत्पन्न होता है, जो उन्नति का मूल है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१६३

मेरे निज स्वरूप, ...

२२—१—१९५०

निष्क्रियता कोई अभ्यास नहीं है, वासनाओं का त्याग हो जाने पर वह अपने आप आ जाती है। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों का त्याग करना ही मन को शुद्ध करने का सुगम उपाय है। ज्यों–ज्यों मन शुद्ध होता जाता है, निःसंकल्पता आती है। निःसंकल्पता दृढ़ होने पर विवेक उत्पन्न होता है, विवेक होते ही निर्मोहता प्राप्त होती है। निर्मोहता आ जाने पर निर्वासना स्वतः आ जाती है। निर्वासना आ जाने पर अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव होता है जो वास्तव में मानव की माँग है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१६४

मेरे निजस्वरूप, सरदारगढ़

२४—५—१९५०

न्याय पूर्वक उपार्जित धन को रोगी, बालक, सेवक और विरक्त की सेवा में लगाना चाहिये। सच्चाई तो यह है कि उन लोगों का बचा हुआ अपने काम में लाना चाहिये।

पश्चिमी सभ्यता ने व्यक्ति की अपेक्षा सामान का महत्त्व अधिक बढ़ाया है जो वास्तव में प्रमाद है, बेसमझी है, धर्म विरुद्ध है। अच्छाई का अभिमान बुराई का मूल हो जाता है। इस कारण निरभिमानता पूर्वक मिले हुए काम को भगवत् नाते करते रहना चाहिये।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१६५

मेरे निजस्वरूप, राँची

२०—७—१९५०

व्यथित हृदय से व्याकुलता पूर्वक की हुई प्रार्थना अवश्य सफल होती है। प्रार्थना करने के पश्चात् विकल्प रहित होकर निश्चिन्त हो

जाओ अर्थात् किसी प्रकार का सन्देह तथा चिन्ता मत करो। देखो भाई, किसान बोये हुए बीज पर न तो सन्देह करता है और न बार-बार खोल कर देखता है। कालान्तर में बीज स्वयं उपजता है। उसी प्रकार सच्चा आस्तिक अपनी सभी इच्छाओं को अपने इष्ट के समर्पण कर अचिन्त हो जाता है।

ईमानदारी अर्थ से अधिक महत्त्व की वस्तु है। उसको सुरक्षित रखने के लिए बड़ी से बड़ी कठिनाई सहन कर लो। गयी हुई वस्तुएँ पुनः मिल सकती हैं, पर गयी हुई ईमानदारी फिर कहाँ ?

रोग का वास्तविक हेतु केवल राग है क्योंकि राग से व्यर्थ चिन्तन तथा असंयम होना स्वाभाविक है और व्यर्थ चिन्तन तथा असंयम से प्राण-शक्ति का क्षीण होना अनिवार्य है। प्राण-शक्ति के दुर्बल होने पर अनेकों रोग स्वतः आ जाते हैं।

कुछ रोग अदृश्य की मलिनता अर्थात् पूर्व कर्म के फल स्वरूप होते हैं। उनकी निवृत्ति तप, त्याग तथा पुण्य कर्म से व भोगने से ही होती है। असंयम द्वारा उत्पन्न रोग यथेष्ट पथ्य अर्थात् आहार-विहार के ठीक होने से मिट जाते हैं। और वीतराग होने पर राग से उत्पन्न होने वाले रोग भी मिट जाते हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१६६

मेरे निजस्वरूप, राँची
१६-९-१९५०

आस्तिक व्यक्ति धीरज पूर्वक वर्तमान का आदर करते हैं, आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन नहीं करते। ईमानदारी पूर्वक परिश्रम करते हुए जीवन यात्रा व्यतीत करो-ब्रह्मचर्य पालने के लिए अस्वाद व्रत परम अनिवार्य है। रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने से वीर्य रक्षा में सुविधा होती है, वास्तव में सर्व इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य ही ब्रह्मचर्य है। अनावश्यक चेष्टाओं का निरोध करने से ब्रह्मचर्य-व्रत स्वाभाविक हो जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१६७

मेरे निजस्वरूप, १९५०

किसी का निरादर न करने वाले को तथा त्याग करने वाले को अ, र, तथा आनन्द अवश्य मिलता है। त्याग और प्रेम बीज और वृक्ष के समान हैं जो विचार रूपी भूमि में अपने आप उत्पन्न होते हैं। विचाररूपी भूमि आवश्यकता होने पर स्वयं तैयार हो जाती है। प्रेम रूप सुन्दर मनोहर वृक्ष को सत्संग रूपी जल से सींचते रहना चाहिये। वृक्ष के हरे–भरे होने पर ज्ञान रूप फल अपने आप आ जायगा जिसको पाकर जीवन की पूर्णता सिद्ध होगी अर्थात् किसी प्रकार की कमी न रहेगी। प्रेम रूप धन अधिक से अधिक छिपा कर रखना चाहिये। यहाँ तक कि मन, इन्द्रियों आदि को भी पता न चले। नहीं तो ये निर्मल प्रेम को गंदा कर देंगे। सच्चे प्रेमी की आवाज प्रेमपात्र के सिवा और कोई नहीं सुन पाता। प्रेमी प्रियतम को अपने में और अपने को प्रियतम में विलीन कर देता है अर्थात् किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। प्रेमी को किसी की सहायता की आवश्यकता मालूम होती हो तो समझ लेना चाहिये कि हृदय में अभी प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है। सच्चाई सब में और सबसे परे है क्योंकि असीम है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

१६८

भक्तवर, हरिद्वार, गंगातट

सर्वदा अभय रहो।

निवृत्ति–मार्ग का अनुसरण करने वाले साधकों को शुद्ध अर्थात् पवित्र संकल्पों की भी पूर्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि संकल्पों की पूर्ति के लिए किसी न किसी प्रकार के संग्रह की आवश्यकता होती है, जो वास्तव में अनर्थ का मूल है। इतना ही नहीं कि संकल्प–पूर्ति का रस साधक को साध्य से अभिन्न नहीं होने देता, प्रत्युत ज्यों–ज्यों संकल्पों की पूर्ति होती जाती है, त्यों–त्यों नवीन संकल्पों की उत्पत्ति भी होती जाती है। यह नियम है कि संकल्प उत्पन्न होते ही सीमित अहंभाव दृढ़ होता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संकल्प–पूर्ति का रस देहाभिमान गलने नहीं देता, उसके बिना काम–क्रोध

आदि विकारों का अन्त नहीं हो पाता। उन विकारों के रहते हुए सर्वसमर्थ आनन्दघन राम से अभिन्न नहीं हो सकता। इस दृष्टि से निवृत्ति–मार्ग के साधक को संकल्पों का त्याग ही परम अनिवार्य है।

संकल्पों का त्याग करते ही सब प्रकार का संग्रह स्वतः मिटने लगता है। ज्यों–ज्यों संग्रह मिटता जाता है, त्यों–त्यों वस्तुओं की दासता, उनकी सत्यता तथा प्रियता भी मिटती जाती है, जिससे देहाभिमान अपने आप गलने लगता है। देहाभिमान गलते ही सभी दोष मिट जाते हैं और निर्दोषता से अभिन्नता प्राप्त होती है। इसी कारण किसी संत ने कहा है कि (नारायण तो मिले उसी को जो देह का अभिमान तजे)।

इस अभागे देहाभिमान ने हमको हमारे परमप्रिय प्रेमास्पद से विमुख कर हमारी जो दुर्दशा की है, वह किसी कथन द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती। केवल संकेतमात्र में यह कह सकते हैं कि हम अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाते, परन्तु फिर भी दूसरों की दृष्टि में आदर के योग्य बने रहने की प्रबल इच्छा करते हैं। हमारी इस बेईमानी को धिक्कार है।

हे पतित–पावन सर्व–समर्थ भगवान्, आप अपनी ओर देख अपने इस पतित प्राणी को अपनाइये, जिससे इसका उद्धार तथा आपका नाम सार्थक हो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।
आपका अभेदस्वरूप

.....

असङ्गता निज-ज्ञान से,
उदारता विज्ञान से और
आत्मीयता आस्था से प्राप्त होती है।
असङ्गता निज-स्वरूप से,
उदारता विश्व से और
आत्मीयता परम प्रेमास्पद से अभिन्न करती है।
अभिन्नता में ही रसरूप जीवन है,
जो एकमात्र दर्शन, विज्ञान
एवं आस्था से साध्य है।

—सन्तवाणी

मूल्य—
Rs 20-00

४००० प्रतियाँ
जनवरी १९९७